भारतीय चित्रांकन परम्परा

(Indian Painting Tradition)

जयंत जॉली

भारतीय चित्रांकन परंपरा

भारतीय चित्रांकन परंपरा
(Indian Painting Tradition)

जयंत जॉली

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5508-3

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

सभ्यता के विकास के साथ परिस्थितियाँ बदलती गई। भारत धर्म और आध्यात्म की ओर आकृष्ट हुआ। यहाँ बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक भावों को प्रधानता दी गई। इसलिए भारत की चित्रकला में भाव-भंगिमा, मुद्रा तथा अंग-प्रत्यंगों के आकर्षण के अंदर से भावपक्ष अधिक स्पष्ट उभरकर सामने आया।

कालांतर में राजनीतिक कारणों से भारत की चित्रकला पर ग्रीक कला का प्रभाव पड़ा, फिर आया भारतीय संस्कृति का स्वर्ण युग। इस युग की चित्रकला की सर्वोत्तम कृतियाँ हैं- अजंता के चित्र, देवी-देवताओं की मूर्तियाँ आदि जिनको देखकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

इस्लाम धर्म चित्रकला के प्रति उदासीन ही नहीं वरन् वर्जना-भाववाला रहा है। इसलिए मुस्लिम शासन के आरंभिक काल में भारतीय चित्रकला का विकास रुक सा गया, किंतु अकबर के समय में, इसमें परिवर्तन हुआ। धर्मग्रंथों के अलंकरण के रूप में चित्रकला फिर पनपने लगी। साथ ही फारसी शैली का भी उस पर प्रभाव पड़ा। मुगल शासन के अवसान के बाद यह चित्रकला देशी राज्यों तक सीमित रह गई। इसी बीच राजस्थानी शैली, कांगड़ा या पहाड़ी शैली के चित्र बने। राग-रागनियों के चित्रों के निर्माण का भी यही समय है।

अंग्रेज यथार्थवादी भौतिक संस्कृति लेकर भारत आए। उनकी चित्रकला बाह्य को ही यथावत उतारती है। इसका प्रभाव भारत के चित्रकारों पर भी पड़ा। रवि वर्मा (1848-1905 ई.) के चित्र इसके प्रमाण हैं।

वर्तमान समय में अभिव्यक्ति और अलंकरण के आधार पर चित्रकला दो मोटे भागों में बाँटी जाती है- 'फाइन आर्ट' जिसमें भावाभिव्यक्ति की प्रधानता है और 'कामर्शियल आर्ट' जो अलंकरण प्रधान है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**चित्रकला**	**1**
	भारत की चित्रकला	1
	इतिहास	2
	राधा–कृष्ण, द्वारा– राजा रवि वर्मा	2
	चित्रकला, हस्त शिल्पकला संग्रहालय, दिल्ली	6
2.	**भारतीय चित्रकला**	**8**
	प्राचीन युग–उद्‌भव	9
	आधुनिक काल में कला	14
	भित्ति चित्र	17
	पूर्वी भारत चित्रकला	18
	चित्रकला के मालवा, दक्कन और जौनपुर स्कूल	19
	मुगल चित्रकला	20
	राजपूत पेंटिंग	21
	पैरिसियन चित्रकला	43
	मोर मुगलशैली की चित्रकला	45
	भित्ति चित्र मेवाड़ चित्रकला की राजस्थान शैली	53
	मारवाड़ चित्रकला, चित्रकला की राजस्थान शैली	55

राधा और कृष्ण किशनगंज चित्रकला की राजस्थान शैली 56
5 पहाड़ी शैली (सत्रह से उन्नीसवीं शताब्दी) 57
गीत-गोविन्द ताड़-पत्र चित्रकारी ओडिशा 61
3. भारतीय अलंकृत कला 63
मिथिला चित्रकला 63
इतिहास 65
विशेषता 65
प्रकार 66
4. पट्टचित्र 67
नाम का महत्त्व 69
उत्पत्ति और इतिहास 70
तकनीक 71
उत्पत्ति और इतिहास 72
थीम और स्टाइल 73
ठिया बढ़िया पटचित्र 79
5. पिथोरा चित्रकला 89
सामाजिक महत्त्व 91
तकनीक 91
6. कालीघाट पेंटिंग 93
इतिहास 93
ओरिएंटल और ओसीडेंटल कालीघाट 94
7. भारतीय चित्रशैलियों की विशेषताएँ 101
बौद्ध शैली 102
8. भारतीय चित्रशालाएँ 113
भारतीय संग्रहालय 114
डोंगरा चित्रशाला 116
9. मुगल चित्रकला 122
कला इतिहास 122
मूल 122
विकास 124

10. राजस्थानी चित्रकला **128**
राजस्थानी चित्रकला की विशेषताएँ 129
स्त्री-सुन्दरता 131
राजस्थानी चित्रकला का आरम्भ 131
मारवाड़ी शैली 133
किशनगढ़ शैली 134
11. राजपूत चित्रकला **146**
मेवाड़ शैली 146
जयपुर शैली 147
बीकानेर शैली 148
सामग्री और उपकरण 151
थीमैटिक प्रदर्शन 152
रागमाला 154
मुख्य केंद्रों की चित्रकारी 157
12. आधुनिक भारतीय चित्रकला **161**
ब्रिटिश कला स्कूल 166
13. परंपरागत कला **174**
कला तत्त्व 174
पृष्ठभूमि 174
14. दृश्य कला **178**
कला अंदाज 178
शिक्षा और प्रशिक्षण 179
मूल और प्रारंभिक इतिहास 180
नवजागरण 181
फिल्म निर्माण 185
15. पहाड़ी चित्रकला **188**
पहाड़ी चित्रकला का विकास 189
कांगड़ा चित्रकला शैली 189

1

चित्रकला

आत्माभिव्यक्ति मानव की प्राकृतिक प्रवृत्ति है। अपने अंदर के भाव प्रकट किए बिना वह रह नहीं सकता और भावों का आधार होता है, मनुष्य का परिवेश। विद्वानों की मान्यता है कि आदिम काल में जब भाषा और लिपि-चिह्नों का आविर्भाव नहीं हुआ था, रेखाओं के संकेत से ही व्यक्ति स्वयं को अभिव्यक्त करता था। गुफाओं के अंदर आज जो शिलाचित्र मिलते हैं, वे ही चित्रकला के आदि प्रमाण हैं, तब का मानवजीवन पशुओं आदि के अधिक निकट था, जीवन के अन्य पक्ष अभी विकसित होने थे, इसलिए तत्कालीन भारतीय चित्रंकन भी इतने तक ही सीमित मिलता है।

भारत की चित्रकला

सभ्यता के विकास के साथ परिस्थितियाँ बदलती गई। भारत धर्म और आध्यात्म की ओर आकृष्ट हुआ। यहाँ बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक भावों को प्रधानता दी गई। इसलिए भारत की चित्रकला में भाव-भंगिमा, मुद्रा तथा अंग-प्रत्यंगों के आकर्षण के अंदर से भावपक्ष अधिक स्पष्ट उभरकर सामने आया।

कालांतर में राजनीतिक कारणों से भारत की चित्रकला पर ग्रीक कला का प्रभाव पड़ा, फिर आया भारतीय संस्कृति का स्वर्ण युग। इस युग की चित्रकला की सर्वोत्तम कृतियाँ हैं- अजंता के चित्र, देवी-देवताओं की मूर्तियाँ आदि जिनको देखकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

इस्लाम धर्म चित्रकला के प्रति उदासीन ही नहीं वरन् वर्जना-भाववाला रहा है। इसलिए मुस्लिम शासन के आरंभिक काल में भारतीय चित्रकला का विकास रुक सा गया, किंतु अकबर के समय में, इसमें परिवर्तन हुआ। धर्मग्रंथों के अलंकरण के रूप में चित्रकला फिर पनपने लगी। साथ ही फारसी शैली का भी उस पर प्रभाव पड़ा। मुगल शासन के अवसान के बाद यह चित्रकला देशी राज्यों तक सीमित रह गई। इसी बीच राजस्थानी शैली, कांगड़ा या पहाड़ी शैली के चित्र बने। राग-रागनियों के चित्रों के निर्माण का भी यही समय है।

अंग्रेज यथार्थवादी भौतिक संस्कृति लेकर भारत आए। उनकी चित्रकला बाह्य को ही यथावत उतारती है। इसका प्रभाव भारत के चित्रकारों पर भी पड़ा। रवि वर्मा (1848-1905 ई.) के चित्र इसके प्रमाण हैं।

वर्तमान समय में अभिव्यक्ति और अलंकरण के आधार पर चित्रकला दो मोटे भागों में बांटी जाती है- 'फाइन आर्ट' जिसमें भावाभिव्यक्ति की प्रधानता है और 'कामर्शियल आर्ट' जो अलंकरण प्रधान है।

इतिहास

भारतीय चित्रकला का इतिहास अत्यंत प्राचीन है यद्यपि आधुनिक शैली की चित्रकला को अधिक पुरानी घटना नहीं माना जाता, परंतु भारत में चित्रकला के बीज तो आदिमानव ने ही डाल दिये थे। पाषाण काल में ही मानव ने गुफा चित्रण करना प्रारम्भ कर दिया था, जिसके प्रमाण होशंगाबाद और भीमवेतका आदि स्थानों की कंदराओ और गुफाओं में मिले हैं। इन चित्रों में शिकार, स्त्रियों तथा पशु-पक्षियों आदि के दृश्य चित्रित हैं।

राधा-कृष्ण, द्वारा- राजा रवि वर्मा

सिंधु घाटी सभ्यता में भवनों के ध्वस्त हो जाने के कारण चित्रकला के प्रमाण स्पष्ट नहीं हैं। तत्पश्चात् प्रथम सदी ईसा पूर्व से चित्रकला के अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना शुरू हो गये। अजंता की गुफाओं में की गई चित्रकारी कई शताब्दियों में तैयार हुई थी, परंतु इसकी सबसे प्राचीन चित्रकला ई. पू. प्रथम शताब्दी की है। इन चित्रों की विषय-वस्तु भगवान बुद्ध के विभिन्न जन्मों की कथाओं अर्थात् जातक को बनाया गया है।

छठी शताब्दी में चालुक्यों द्वारा बादामी में, सातवीं शताब्दी में पल्लवों द्वारा पनमलै में, नवीं शताब्दी में पांड्यों द्वारा सित्तन्नवासल में बारहवीं शताब्दी में

चोलों द्वारा तंजौर में तथा सोलहवीं शताब्दी के विजयनगर साम्राज्य के शासकों द्वारा लेपाक्षी में भित्ति चित्रकारी के उत्कृष्ट नमूने तैयार करवाये गये। इसी प्रकार केरल में भी इस कला के कई उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। बंगाल के पाल शासकों के काल दसवी और बारहवीं शताब्दी में ताड़ के पत्तों तथा बाद में कागज पर लघु चित्रकारी का प्रचलन बढ़ा।

मुगल काल की चित्रकला अपनी उत्कृष्टता के लिए विश्व विख्यात है। अकबर के दरबार में अनेक फारसी तथा भारतीय चित्रकार मौजूद थे। इस काल की कला की एक उल्लेखनीय विशेषता थी एक ही चित्र को विभिन्न कलाकारों द्वारा मिलकर तैयार किया जाना। एक कलाकार चित्र का रेखांकन करता था, दूसरा उसमें रंग भरता था और तीसरा तफसील तैयार करता था। अकबर ने रामायण और महाभारत का अनुवाद तैयार कराके उसे चित्रकारी से सजाने का आदेश दिया था। जहाँगीर के काल में चित्रकला अपनी पराकाष्ठा कर पहुँच गई।

मुगल दरबार में अनेक नये चित्रकला भी प्रशिक्षित हुए और वे विभिन्न राजपूत राज्यों की राजधानियों में अपनी कला का प्रदर्शन करने लगे। इन चित्रकारों ने देश की महान् कथाओ और आख्यानों राम तथा कृष्ण की कथाओं, भागवत तथा गीतगोविंद के आख्यानों आदि का आकर्षक चित्रण किया। किशनगढ़ शैली तथा कोटा शैली ऐसी ही चित्रकला शैली थी। इसी प्रकार हिमालय, कुल्लू और कांगड़ा घाटियों में भी उत्कृष्ट चित्रकला का विकास हुआ।

चित्रकार

परंतु ब्रिटिश काल में चित्रकला के विकास में कुछ मंदी आ गयी। इसके बाद भारत के नवजागरण से प्रभावित चित्रकला का नया रूप सामने आया। इसके मुख्य प्रवर्तक रहे हैं- रविवर्मा, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, नंदलाल बोस, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, यामिनी राय, असित हालदार, अमृता शेरगिल आदि ने धीरे-धीरे इस कला को पुनः प्रगति की लीक पर लाने का प्रयास किया। इस युग से कला राजपूताना या कांगड़ा शैली के नख-शिख चित्रण से हटकर रंग और रेखाओं के माध्यम से भावनाओं को व्यक्त करने की ओर अभिमुख हुई और आज के भारतीय चित्रकारों की कृतियाँ इस प्रयोगवादी शैली से प्रभावित हैं। तत्पश्चात् गगनेंद्रनाथ टैगोर, अमृता शेरगिल, नंदलाल बोस, जैमिनी राय तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि कलाकारों ने भारतीय चित्रकला को नये आयाम प्रदान किये। मकबूल फिदा हुसैन, चित्रकला के प्रमुख उन्नायक हैं।

भारतीय चित्रकला शैलियाँ

'जमुना' (गोपियों के साथ कृष्ण), द्वारा- राजा रवि वर्मा

जैन चित्रकला।

7वीं से 12वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भारत को प्रभावित करने वाली शैलियों में जैन शैली का प्रमुख स्थान है।

जैन चित्रकला शैली में जैन तीर्थंकरों-पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, ऋषभनाथ, महावीर स्वामी आदि के चित्र सर्वाधिक प्राचीन हैं।

जैन चित्रकला का नमूना जैन ग्रंथों के ऊपर लगी दफ्तियों या लकड़ी की पटरियों पर भी मिलता है, जिसमें सीमित रेखाओं के माध्यम से तीव्र भावाभिव्यक्ति तथा आंखों के बड़े सुन्दर चित्र बनाये गये हैं।

पाल चित्रकला

9वीं से 12वीं शताब्दी तक बंगाल में पाल वंश के शासकों धर्मपाल और देवपाल के शासन में विशेष रूप से विकसित होने वाली पाल शैली की चित्रकला की विषय-वस्तु बौद्ध धर्म से प्रभावित रही है।

प्रारम्भ में ताड़ पत्र और बाद में कागज पर बनाये जाने वाले चित्रों में वज्रयान बौद्ध धर्म के दृश्य चित्रित हैं।

अपभ्रंश चित्रकला

अपभ्रंश शैली 11 वीं से 15 वीं शताब्दी के बीच प्रारम्भ में ताड़ पत्रों पर और बाद में कागज पर चित्रित हुई।

अपभ्रंश शैली के चित्रों की सर्वप्रमुख विशेषता है– चेहरे की विशेष बनावट, नुकीली नाक तथा आभूषणों की अत्यधिक सज्जा।

गोवर्धन पर्वत उठाये श्री कृष्ण- (मुगल काल)

मुगल चित्रकला

मुगल बादशाहों बाबर और हुमायूँ के काल में मुगलकालीन चित्रकला फारसी चित्रकला शैली से पूर्णतया प्रभावित थी।

अकबर के काल में एक नवीन शैली का विकास हुआ, जो भारतीय और फारसी चित्रकलाओं का संगम थी।

पटना या कम्पनी चित्रकला

जनसामान्य के आम पहलुओं के चित्रण के लिए प्रसिद्ध पटना या कम्पनी चित्रकला शैली का विकास मुगल साम्राज्य के पतन के बाद हुआ, जब चित्रकारों ने पटना एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्र को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया।

इन चित्रकारों द्वारा चित्र बनाकर ब्रिटेन भी भेजे गये जो आज भी वहाँ के संग्रहालयों में विद्यमान हैं।

दक्कन चित्रकला

दक्कन चित्रकला शैली का प्रधान केन्द्र बीजापुर था, परंतु इसका विस्तार गोलकुण्डा एवं अहमदनगर राज्यों में भी था।

'रागमाला' के चित्रों का चित्रंकन दक्कन चित्रकला शैली में विशेष रूप से किया गया है।

कृष्ण-बलराम, देवकी-वसुदेव से मिलते हुए, द्वारा- राजा रवि वर्मा

गुजरात चित्रकला

गुर्जर या गुजरात शैली के नाम से अभिहित की जाने वाली चित्रकला की इस शैली में पर्वत, नदी, सागर, पृथ्वी, अग्नि, बादल, क्षितिज, वृक्ष आदि विशेषरूप से बनाये गये हैं।

गुजरात चित्रकला शैली के चित्रों की प्राप्ति मारवाड़, अहमदनगर, मालवा, जौनपुर, अवध, पंजाब, नेपाल, उड़ीसा, तक होती है। जिससे सिद्ध होता है कि इसका प्रभाव क्षेत्र काफी विस्तृत था।

राजपूत चित्रकला

मुगल काल के अंतिम दिनों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक राजपूत राज्यों की उत्पत्ति हो गई।

राजपूत चित्रकला में मेवाड़, बूँदी, मालवा आदि उल्लेखनीय हैं। इन राज्यों में विशिष्ट प्रकार की चित्रकला शैली का विकास हुआ।

इन विभिन्न शैलियों में कुछ विशेषताएँ, उभयनिष्ट दिखाई दीं, जिसके आधार पर उन्हें 'राजपूत' शैली नाम प्रदान किया गया।

चित्रकला की यह शैली काफी प्राचीन प्रतीत होती है, किंतु इसका वास्तविक स्वरूप 15वीं शताब्दी के बाद ही प्राप्त होता है।

यह वास्तव में राजदरबारों से प्रभावित शैली है, जिसके विकास में कन्नौज, बुन्देलखण्ड तथा चन्देल राजाओं का सराहनीय योगदान रहा है।

राजपूत चित्रकला शैली विशुद्ध हिन्दू परम्पराओं पर आधारित है।

भित्ति चित्र, हस्त शिल्पकला संग्रहालय, दिल्ली

पहाड़ी चित्रकला

राजपूत शैली से ही प्रभावित पहाड़ी चित्रकला हिमालय के तराई में स्थित विभिन्न क्षेत्रों में विकसित हुई, परंतु इस पर मुगलकालीन चित्रकला का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है।

पाँच नदियों-सतलुज, रावी, व्यास, झेलम तथा चिनाव का क्षेत्र पंजाब, तथा अन्य पर्वतीय केन्द्रों जैसे–जम्मू, कांगड़ा, गढ़वाल आदि में विकसित इस चित्रकला शैली पर पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों की भावानाओं तथा संगीत व धर्म सम्बन्धी परम्पराओं की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

पहाड़ी शैली के चित्रों में प्रेम का विशिष्ट चित्रण दृष्टिगत होता है। कृष्ण-राधा के प्रेम के चित्रों के माध्यम से इनमें स्त्री-पुरुष प्रेम सम्बंधों को बड़ी बारीकी एवं सहजता से दर्शाने का प्रयास किया गया है।

नाथद्वार चित्रकला

1671 में ब्रज से श्रीनाथजी को मूर्ति के नाथद्वार लाये जाने के पश्चात् ब्रजवासी चित्रकारों द्वारा मेवाड़ में ही चित्रकला की स्वतंत्र नाथद्वारा शैली का विकास किया गया है।

इस शैली में बने चित्रों में श्रीनाथजी की प्राकट्य छवियों, आचार्यों के दैनिक जीवन सम्बंधी विषयों तथा कृष्ण की विविध लीलाओं को दर्शाया गया है।

चित्रकला, हस्त शिल्पकला संग्रहालय, दिल्ली

सिक्ख चित्रकला

सिक्ख शैली का विकास लाहौर स्टेट के राजा महाराजा रणजीत सिंह के शासन काल (1803 से 1839) में हुआ।

सिक्ख शैली के विषयों का चयन पौराणिक महाकाव्यों से किया गया है, जबकि इसका स्वरूप पूर्णत: भारतीय है।

बशोली चित्रकला

पुस्तक चित्रण की पहाड़ी शैली, जो भारतीय पहाड़ी राज्यों में 17वीं शताब्दी के अंत व 18वीं शताब्दी में फली-फूली बशोली चित्रकला अपने रंगों और रेखाओं की सजीवता के लिए जानी जाती है यद्यपि इस शैली का नाम एक छोटे से स्वतंत्र राज्य बशोली के नाम पर पड़ा, जो इस शैली का मुख्य केंद्र है, इसके नमूने क्षेत्र में पाए जाते हैं।

मेवाड़ की चित्रकला

मेवाड़ की चित्रकला काफी लम्बे समय से ही लोगों का ध्यान आकर्षित करती रही है। यहाँ चित्रांकन की अपनी एक विशिष्ट परंपरा है, जिसे यहाँ के चित्रकार पीढ़ियों से अपनाते रहे हैं। 'चितारे' अपने अनुभवों एवं सुविधाओं के अनुसार चित्रण के कई नए तरीके भी खोजते रहे। रोचक तथ्य यह है कि यहाँ के कई स्थानीय चित्रण केन्द्रों में वे परंपरागत तकनीक आज भी जीवित हैं। रेखा, रंग, रूप एवं संयोजन का विश्लेषणात्मक प्रयोग मेवाड़ चित्र शैली में संतुलित ढ़ंग से किया गया है। यही मेवाड़ के परंपरागत चित्रकारों की कुशल सुझ-बुझ का प्रतीक है। चित्र संयोजन के साथ आत्मिक सात्विकता के आधार पर श्रृंगारिक एवं रीतिकालीन राग-रागिनियों का चित्रण हुआ है, उनमें भी वही सात्विक कौमार्य भाव है, जिन्हें दर्शक ईश्वरीय गुणों के अनुरूप मान लेता है। यह इस चित्र शैली के चित्रों की मनोवैज्ञानिक संयोजन प्रणाली की विशेषता है। परंपरागत मेवाड़ चित्रशैली में सभी प्रेरक तत्त्व इस चित्रशैली के कलावादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं।

2

भारतीय चित्रकला

भारतीय चित्रकला में भारतीय कला में एक बहुत लंबी परंपरा और इतिहास है। सबसे पुरानी भारतीय पेंटिंग्स पूर्व-ऐतिहासिक काल की रॉक पेंटिंग्स थीं, पेट्रोग्लीफ जैसे–कि भीम्बेटका रॉक आश्रयों जैसे–स्थानों में पाए जाते हैं, भिमेटका रॉक आश्रयों में पाए जाने वाले कुछ पाषाण युग रॉक चित्रों में लगभग 30,000 वर्ष पुराने हैं। भारत का बौद्ध साहित्य ग्रंथों के उदाहरणों से भरा हुआ है, जो सेना के महलो और अभिजात वर्ग को पेंटिंग के साथ सजाए गए हैं, लेकिन अजंता गुफाओं की पेंटिंग्स कुछ जीवित जीवों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। पांडुलिपियों में छोटे पैमाने पर पेंटिंग शायद इस अवधि में भी प्रचलित थी, हालांकि शुरुआती जीवित मध्ययुगीन काल से हैं। मुगल चित्रकला ने पुरानी भारतीय परंपराओं के साथ फारसी लघुचित्र के संलयन का प्रतिनिधित्व किया और 17 वीं शताब्दी से इसकी शैली सभी धर्मों की भारतीय रियासतों में फैली हुई थी, प्रत्येक स्थानीय शैली विकसित कर रहा था। ब्रितानी राज के तहत ब्रिटिश ग्राहकों के लिए कंपनी पेंटिंग की गई थी, जिसने 19वीं शताब्दी से पश्चिमी लाइनों के साथ कला स्कूल भी पेश किए, जिससे आधुनिक भारतीय चित्रकला हुई, जो तेजी से अपनी भारतीय जड़ें लौट रही है।

भारतीय चित्र एक सौंदर्य निरंतरता प्रदान करते हैं, जो प्रारंभिक सभ्यता से आज तक फैली हुई है। शुरुआत में अनिवार्य रूप से धार्मिक होने से, भारतीय

चित्रकला वर्षों से विभिन्न संस्कृतियो और परंपराओं का संलयन बनने के लिए विकसित हुई है।

भारत में चित्रकला का इतिहास बहुत पुराना रहा है। पाषाण काल में ही मानव ने गुफा चित्रण करना शुरू कर दिया था। होशंगाबाद और भीमबेटका क्षेत्रों में कंदराओ और गुफाओं में मानव चित्रण के प्रमाण मिले हैं। इन चित्रों में शिकार, शिकार करते मानव समूहों, स्त्रियों तथा पशु-पक्षियों आदि के चित्र मिले हैं। अजंता की गुफाओं में की गई चित्रकारी कई शताब्दियों में तैयार हुई थी, इसकी सबसे प्राचीन चित्रकारी ई.पू. प्रथम शताब्दी की हैं। इन चित्रों में भगवान बुद्ध को विभिन्न रुपों में दर्शाया गया है।

प्राचीन युग–उद्‌भव

गुफाओं से मिले अवशेषो और साहित्यिक स्त्रोतों के आधार पर यह स्पष्ट है कि भारत में एक कला के रूप में 'चित्रकला' बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। भारत में चित्रकला और कला का इतिहास मध्यप्रदेश की भीमबेटका गुफाओं की प्रागैतिहासिक काल की चट्‌टानों पर बने पशुओं के रेखांकन और चित्रंकन के नमूनों से प्रारंभ होता है। महाराष्ट्र के नरसिंहगढ़ की गुफाओं के चित्रों में चितकबरे हरिणों की खालों को सूखता हुआ दिखाया गया है। इसके हजारों साल बाद रेखांकन और चित्रंकन हड़प्पाकालीन सभ्यता की मुद्राओं पर भी पाया जाता है।

हिन्दु और बौद्ध दोनों साहित्य ही कला के विभिन्न तरीको और तकनीकों के विषय में संकेत करते हैं, जैसे–लेप्यचित्र, लेखाचित्र और धूलिचित्र। पहली प्रकार की कला का सम्बन्ध लोक कथाओं से है। दूसरी प्रागेतिहासिक वस्त्रों पर बने रेखा चित्र और चित्रकला से संबंद्ध है और तीसरे प्रकार की कला फर्श पर बनाई जाती है।

ईसा पूर्व पहली शताब्दी के लगभग चित्रकला षडांग (चित्रकला के छः अंग) का विकास हुआ। वात्स्यायन का जीवनकाल ईसा पश्चात 3री शताब्दी है। उन्होंने कामसूत्र में इन छः अंगो का वर्णन किया है। कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के तीसरे अध्याय की टीका करते हुए यशोधर पंडित ने आलेख्य (चित्रकला) के छह अंग बताये हैं-

1. रूपभेद।
2. प्रमाण-सही नाप और संरचना आदि।

3. भाव।
4. लावण्य योजना।
5. सादृश्य विधान।
6. वर्णिकाभंग।

रूपभेदाः प्रमाणनि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्र षंड्गकम्॥

बौद्ध धर्म ग्रंथ विनयपिटक (4-3 ईसा पूर्व) में अनेकों शाही इमारतों पर चित्रित आकृतियों के अस्तित्त्व का वर्णन प्राप्त होता है। मुद्राराक्षस नाटक (पांचवी शती ईसा-पश्चात) में भी अनेकों चित्रों या चित्रपटों का उल्लेख है। छठी शताब्दी के सौंदर्यशास्त्र के ग्रंथ वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' ग्रंथ में 64 कलाओं के अंतर्गत चित्रकला का भी उल्लेख है और यह भी कहा गया है कि यह कला वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित है। सातवीं शताब्दी (ईसा पश्चात) के विष्णुधर्मोत्तर पुराण में एक अध्याय चित्रकला पर भी है, जिसका नाम 'चित्रसूत्र' है। इसमें बताया गया है कि चित्रकला के छह अंग हैं- आकृति की विभिन्नता, अनुपात, भाव, चमक, रंगों का प्रभाव आदि, अतः पुरातत्त्वशास्त्र और साहित्य प्रागैतिहासिक काल से ही चित्रकला के विकास को प्रमाणित करते आ रहे हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र में चित्रकला का महत्त्व इन शब्दों में बया गया है-

कलानां प्रवरं चित्रम् धर्मार्थ काम मोक्षादं।
मांगल्य प्रथम् दोतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम् (38)

(अर्थ-कलाओं में चित्रकला सबसे ऊँची है, जिसमें धर्म, अर्थ, काम एवम् मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः जिस घर में चित्रों की प्रतिष्ठा अधिक रहती है, वहाँ सदा मंगल की उपस्थिति मानी गई है।)

6ठी शताब्दी में निर्मित अजन्ता गुफा के चित्र

अजन्ता की गुफा क्रमांक 1 में महाजनक जातक के एक दृश्य युक्त भित्तिचित्र

गुप्तकालीन चित्रकला के सर्वोत्तम नमूने अजन्ता में प्राप्त हैं। उनकी विषय-वस्तु थी, पशु-पक्षी, वृक्ष, फूल, मानवाकृतियाँ और जातक कथाएँ।

भित्तिचित्र, छतों पर और पहाड़ी दीवारों पर बनाए जाते हैं। गुफा नं 9 के चित्र में बौद्ध-भिक्षुओं को स्तूप की ओर जाता हुआ दर्शाया गया है। 10 नं. की

गुफा में जातक कहानियाँ चित्रित की गई हैं, परंतु सर्वोत्कृष्ट चित्र पांचवीं-छठी शताब्दी के गुप्त काल में प्राप्त हुए हैं। ये भित्तिचित्र प्रमुखतया बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं में धार्मिक कृत्यों को दर्शाते हैं, परंतु कुछ चित्र अन्य विषयों पर भी आधारित हैं। इनमें भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों को दर्शाया गया है। राजप्रासादों में राजकुमार, अन्तःपुरों में महिलाएँ, कन्धों पर भार उठाए कुली, भिक्षुक, किसान, तपस्वी एवं इनके साथ अन्य भारतीय पशु-पक्षियों तथा फूलों का चित्रण किया गया है।

चित्रों में प्रयुक्त सामग्री—विभिन्न प्रकार के चित्रों में भिन्न-भिन्न सामग्रियों का प्रयोग किया जाता था। साहित्यिक स्रोतों में चित्रशालाओ और शिल्पशास्त्रों (कला पर तकनीकी ग्रन्थ) के संदर्भ प्राप्त होते हैं।

तथापि चित्रों में जिन रंगों का प्रमुख रूप से उपयोग किया गया है, वे हैं धातु रंग, चटख लाल कुमकुम या सिन्दूर, हरीताल (पीला) नीला, लापिसलाजुली नीला, काला, चाक की तरह सफेद खड़िया मिट्टी, (गेरु माटी) और हरा। ये सभी रंग भारत में सुलभ थे सिवाय लापीस लेजुली के। ये संभवतः पाकिस्तान से आता था। कुछ दुर्लभ अवसरों पर मिश्रित रंग जैसे—सलेटी आदि भी प्रयोग किए जाते थे। रंगों के प्रयोग का चुनाव विषय-वस्तु और स्थानीय वातावरण के अनुसार सुनिश्चित किया जाता था।

बौद्ध चित्रकला के अवशेष उत्तर भारतीय 'बाघ' नामक स्थान पर तथा छठी और नौवीं शताब्दी के दक्षिण भारतीय स्थानों पर स्थित बौद्ध गुफाओं में प्राप्त होते हैं, यद्यपि इन चित्रों की विषय-वस्तु धार्मिक है परंतु अपने अन्तर्निहित भावो और अर्थों के अनुसार इनसे अधिक धर्मनिरपेक्ष दरबारी और सम्भ्रान्त विषय नहीं हो सकते, यद्यपि इन चित्रों के बहुत कम ही अवशेष पाये जाते हैं, परंतु उनमें अनेकों चित्र देवी-देवताओं, देवसदृश किन्नरो और अप्सराओं, विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी, फल-फूलों सहित प्रसन्नता, प्रेम, कृपा और मायाजाल आदि के भावों को भी दर्शाते हैं। इनके अन्य उदाहरण बादामी (कर्नाटक) की गुफा सं 3, कांचीपुरम के मन्दिरों, सित्तनवासल (तमिलनाडु) की जैनगुफाओं तथा एलोरा (आठवी और नवीं शताब्दी) तथा कैलाश और जैन गुफाओं में पाए जाते हैं। बहुत से अन्य दक्षिण भारतीय मंदिरों जैसे—तंजौर के वृहदेश्वर मंदिर के भित्तिचित्र महाकाव्यो और पुराण कथाओं पर आधारित हैं। जहाँ एक ओर बाघ, अजंता और बदामी के चित्र उत्तर और दक्षिण की शास्त्रीय परम्पराओं के नमूने प्रस्तुत करते हैं, सित्तनवासल, कांचीपुरम, मलयादिपट्टी, तिरूमलैपुरम के चित्र

दक्षिण में इसके विस्तार को भलीप्रकार दर्शाते हैं। सितानवसल (जैनसिद्धों के निवासद्ध के चित्र जैन धर्म की विषय-वस्तु से संबद्ध हैं, जबकि अन्य तीन स्थानों के चित्र जैन अथवा वैष्णव धर्म के प्रेरक हैं यद्यपि ये सभी चित्र पारंपरिक धार्मिक विषय-वस्तु पर आधारित हैं, तथापि ये चित्र मध्ययुगीन प्रभावों को भी प्रदर्शित करते हैं, जैसे–एक ओर सपाट और अमूर्त चित्रण और दूसरी ओर कोणीय तथा रेखीय डिजाइन।

मध्यकालीन भारत में चित्रकला

दिल्ली सल्तनत के काल में शाही महलो और शाही अन्त:पुरो और मस्जिदों से भित्तिचित्रों के वर्णन प्राप्त हुए हैं। इनमें मुख्यतया फूलों, पत्तो और पौधों का चित्रण हुआ है। इल्तुतमिश (1210-36) के समय में भी हमें चित्रों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316) के समय में भी हमें भित्ति चित्र तथा वस्त्रों पर चित्रकारी और अलह्कत पाण्डुलिपियों पर लघुचित्र प्राप्त होते हैं। सल्तनत काल में हम भारतीय चित्रकला पर पश्चिमी और अरबी प्रभाव भी देखते हैं। मुस्लिम शिष्टवर्ग के लिए ईरान और अरब देशों से फारसी और अरबी की अलंकृत पाण्डुलिपियों के भी आने के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। इस काल में हमें अन्य क्षेत्रीय राज्यों से भी चित्रों के सन्दर्भ मिलते हैं। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के महल को अलंकृत करने वाली चित्रकारी ने बाबर और अकबर दोनों को ही प्रभावित किया। 14वीं 15वीं शताब्दियों में सूक्ष्म चित्रकारी गुजरात और राजस्थान में एक शक्तिशाली आन्दोलन के रूप में उभरी और केन्द्रीय, उत्तरी और पूर्वी भारत में अमीर और व्यापारियों के संरक्षण के कारण फैलती चली गई। मध्यप्रदेश में मांडु, पूर्वी उत्तरप्रदेश में जौनपुर और पूर्वी भारत में बंगाल-ये अन्य बड़े केंद्र थे जहाँ पाण्डुलिपियों को चित्रकला से सजाया जाता था।

9-10वीं शती में बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा आदि पूर्वी भारतीय प्रदेशों में पाल शासन के अंतर्गत एक नई प्रकार की चित्रण शैली का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे 'लघुचित्रण' कहा जाता है, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ये लघुचित्र नाशवान पदार्थों पर बनाए जाते थे। इसी श्रेणी के अंतर्गत इनसे बौद्ध, जैन और हिन्दु ग्रंथों की पाण्डुलिपियों को भोजपत्रों पर सजाया जाने लगा। ये चित्र अजंता शैली से मिलते जुलते थे, परंतु सूक्ष्म स्तर पर। ये पाण्डुलिपियाँ व्यापारियों के अनुग्रह पर तैयार की जाती थीं, जिन्हें वे मंदिरो और मठों को दान कर देते थे।

तेरहवीं शताब्दी के पश्चात उत्तरी भारत के तुर्की सुलतान अपने साथ पारसी दरबारी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण स्वरूपों को भी अपने साथ लाए। पन्द्रहवी और सोलहवीं शताब्दियों में पश्चिम प्रभाव की अलंकृत पाण्डुलिपियाँ मालवा, बंगाल, दिल्ली, जौनपुर, गुजरात और दक्षिण में बनाई जाने लगीं। भारतीय चित्रकारों की ईरानी परम्पराओं से अन्त:क्रिया दोनों शैलियों के सम्मिश्रण में फलीभूत हुई, जो 16वीं शताब्दी के चित्रों में स्पष्ट झलकती है। प्रारम्भिक सल्तनत काल में पश्चिमी भारत में जैन समुदाय द्वारा चित्रकला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया गया। जैन शास्त्रों की अलंकत पाण्डुलिपियाँ मन्दिर के पुस्तकालयों को उपहरस्वरूप दे दी गई। इन पाण्डुलिपियों में जैन तीर्थंकरों के जीवन और कृत्यों को दर्शाया गया है। इन पाठ्यग्रंथों के स्वरूप को अलंकत करने की कला को मुगल शासकों के संरक्षण में एक नया जीवन मिला। अकबर और उनके परवर्ती शासक चित्रकला और भोग विषयक उदाहरणों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाए। इसी काल से किताबों की सजावट या व्यक्तिगत लघुचित्रों में भित्तिचित्रकारी का स्थान एक प्रमुख शैली के रूप में विकसित हुआ। अकबर ने कश्मीर और गुजरात के कलाकारों को संरक्षण दिया। हुमायू ने अपने दरबार में दो ईरानी चित्रकारों को प्रश्रय दिया। पहली बार चित्रकारों के नाम शिलालेखों पर भी अंकित किए गए। इस काल के कुछ महान चित्रकार थे, अब्दुस्समद, दसवंत तथा बसावन। बाबरनामा और अकबरनामा के पृष्ठों पर चित्रकला के सुंदर उदाहरण पाये जाते हैं।

राजस्थानी चित्रकला (निहाल चन्द)

कुछ ही वर्षों में पारसी और भारतीय-शैली के मिश्रण से एक सशक्त शैली विकसित हुई और स्वतंत्र 'मुगल चित्रकला' शैली का विकास हुआ। 1562 और 1577 ई. के मध्य नई शैली के आधार पर प्राय: 1400 वस्त्रचित्रों की रचना हुई और इन्हें शाही कलादीर्घा में रखा गया। अकबर ने प्रतिकृति बनाने की कला को भी प्रोत्साहित किया। चित्रकला जहांगीर के काल में अपनी चरम सीमा पर थी। वह स्वयं भी उत्तम चित्रकार और कला का पारखी था। इस समय के कलाकारों ने चटख रंग जैसे–मोर के गले सा नीला तथा लाल रंग का प्रयोग करना और चित्रों को त्रि-आयामी प्रभाव देना प्रारंभ कर दिया था। जहांगीर के शासन काल के मशहूर चित्रकार थे- मंसूर, बिशनदास तथा मनोहर। मंसूर ने चित्रकार अबुलहसन की अद्‌भुत प्रतिकृति बनाई थी। उन्होंने पशु-पक्षियों को चित्रित करने में विशेषता प्राप्त

की थी यद्यपि शाहजहाँ भव्य वास्तु कला में अधिक रुचि रखता था, उसके सबसे बड़े बेटे दाराशिकोह ने अपने दादा की तरह ही चित्रकला को बढ़ावा दिया। उसे भी प्राकृतिक तत्त्व जैसे–पौधे, पशु आदि को चित्रित करना अधिक पसंद था। तथापि औरंगजेब के समय में शाहीसंरक्षण के अभाव में चित्रकारों को देश के विभिन्न भागों में पनाह लेने को बाध्य होना पड़ा। इससे राजस्थान और पंजाब की पहाड़ियों में चित्रकला के विकास को प्रोत्साहन मिला और चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ जैसे–राजस्थानी शैली और पहाड़ी शैली विकसित हुई। ये कृतियाँ एक छोटी सी सतह पर चित्रित की जाती थी और इन्हें 'लघुचित्रकारी' कहा जाने लगा। इन चित्रकारों ने महाकाव्यों, मिथको और कथाओं को अपने चित्रों की विषय–वस्तु बनाया। अन्य विषय थे बारहमासा, रागमाला (लय) और महाकाव्यों के विषय आदि। लघुचित्रकला स्थानीय केन्द्रों जैसे–कांगड़ा, कुल्लू, बसोली, गुलेर, चम्बा, गढ़वाल, बिलासपुर और जम्मू आदि में विकसित हुई।

पन्द्रहवी और सोलहवीं शती में भक्ति आन्दालेन के उद्‌भव ने वैष्णव भक्तिमार्ग की विषय–वस्तु पर चित्र सज्जित पुस्तकों के निर्माण को प्रोत्साहित किया। पूर्व मुगल काल में भारत के उत्तरी प्रदेशों में मंदिरों की दीवारों पर भित्तिचित्रों के निर्माण को प्रोत्साहन मिला।

आधुनिक काल में कला

अठारहवीं शती के उत्तरार्ध और उन्नीसवीं शती के प्रारंभ में चित्रकला अर्ध–पाश्चात्य स्थानीय शैलियों पर आधारित थी, जिसको ब्रिटिश निवासियो और ब्रिटिश आगुन्तकों ने संरक्षण प्रदान किया। इन चित्रों की विषय–वस्तु भारतीय सामाजिक जीवन, लोकप्रिय पर्व और मुगलकालीन स्मारकों पर आधारित होती थीं। इन चित्रों में परिष्कृत मुगल परम्पराओं को प्रतिबिम्बित किया गया था। इस काल की सर्वोत्तम चित्रकला के कुछ उदाहरण हैं- लेडी इम्पे के लिए शेख जियाउद्दीन के पक्षि–अध्ययन, विलियम फ्रेजर और कर्नल स्किनर के लिए गुलाम अली खां के प्रतिकृति चित्र।

राजा रवि वर्मा की कृति–मुड़कर (दुष्यन्त को) पीछे देखती शकुन्तला

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में कलकत्ता, मुम्बई और मद्रास आदि प्रमुख भारतीय शहरों में यूरोपीय मॉडल पर कला स्कूल स्थापित हुए। त्रवणकोर के

राजा रवि वर्मा के मिथकीय और सामाजिक विषय-वस्तु पर आधारित तैल चित्र इस काल में सर्वाधिक लोकप्रिय हुए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, इ. बी हैवल और आनन्द केहटिश कुमार स्वामी ने बंगाल कला शैली के उदय में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बंगाल कला शैली 'शांति निकेतन' में फली-फूली जहाँ पर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'कलाभवन' की स्थापना की। प्रतिभाशील कलाकार जैसे—नंदलाल बोस, विनोद बिहारी मुखर्जी, आदि उभरते कलाकारों को प्रशिक्षण देकर प्रोत्साहित कर रहे थे। नन्दलाल बोस भारतीय लोक कला तथा जापानी चित्रकला से प्रभावित थे और विनोद बिहारी मुकर्जी प्राच्य परम्पराओं में गहरी रुचि रखते थे। इस काल के अन्य चित्रकार जैमिनी राय ने उड़ीसा की पट-चित्रकारी और बंगाल की कालीघाट चित्रकारी से प्रेरणा प्राप्त की। सिख पिता और हंगेरियन माता की पुत्री अमृता शेरगिल ने पेरिस, बुडापेस्ट में शिक्षा प्राप्त की तथापि भारतीय विषय-वस्तु को लेकर गहरे चटख रंगों से चित्रकारी की। उन्होंने विशेषरूप से भारतीय नारी और किसानों को अपने चित्रों का विषय बनाया, यद्यपि इनकी मृत्यु अल्पायु में ही हो गई परंतु वह अपने पीछे भारतीय चित्रकला की समृद्ध विरासत छोड़ गई है।

धीरे-धीरे अंग्रेजी पढ़े-लिखे शहरी मध्यवर्ती लोगों की सोच में भारी परिवर्तन आने लगा और यह परिवर्तन कलाकारों की अभिव्यक्ति में भी दिखाई पड़ने लगा। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध बढ़ती जागरूकता, राष्ट्रीयता की भावना और एक राष्ट्रीय पहचान की तीव्र इच्छा ने ऐसी कलाकृतियों को जन्म दिया जो पूर्ववर्ती कला की परम्पराओं से एकदम अलग थीं। सन् 1943 में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय परितोष सेन, नीरद मजुमदार और प्रदोष दासगुप्ता आदि के नेतृत्व में कलकत्ता के चित्रकारों ने एक नया वर्ग बनाया, जिसने भारतीय जनता की दशा को नई दृश्य भाषा और नवीन तकनीक के माध्यम से प्रस्तुत किया।

दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था सन् 1948 में मुंबई में फ्रांसिस न्यूटन सूजा के नेतृत्व में प्रगतिशील कलाकार संघ की स्थापना। इस संघ के अन्य सदस्य थे एस एच रजा, एम एफ हुसैन, के एम अरा, एस के बाकरे तथा एच ए गोडे। यह संस्था बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट से अलग हो गई और इसने स्वतंत्र भारत की आधुनिकतम सशक्त कला को जन्म दिया।

1970 से कलाकारों ने अपने वातावरण का आलोचनातमक दृष्टि से सर्वेक्षण करना प्रारंभ किया। गरीबी और भ्रष्टाचार की दैनिक घटनाएँ, अनैतिक भारतीय राजनीति, विस्फोटक साम्प्रदायिक तनाव, एवं अन्य शहरी समस्याएँ अब

उनकी कला का विषय बनने लगीं। देवप्रसाद राय चौधरी एवं के सी एस पणिकर के संरक्षण में मद्रास स्कूल ऑफ आर्ट संस्था स्वतन्त्रतोत्तर भारत में एक महत्त्वपूर्ण कला केन्द्र के रूप में उभरी और आधुनिक कलाकारों की एक नई पीढ़ी को प्रभावित किया।

आधुनिक भारतीय चित्रकला के रूप में जिन कलाकारों ने अपनी पहचान बनाई, वे हैं- तैयब मेहता, सतीश गुजराल, कृष्ण खन्ना, मनजीत बाबा, के जी सुब्रह्मण्यन, रामकुमार, अंजलि इला मेनन, अकबर पप्रश्री, जतिन दास, जहांगीर सबावाला तथा ए. रामचन्द्रन आदि। भारत में कला और संगीत को प्रोत्साहित करने के लिए दो अन्य राजकीय संस्थाएँ स्थापित हुई।

1. नेशनल गैलरी ऑफ माडर्न आर्ट- इसमें एक ही छत के नीचे आधुनिक कला का एक बहुत बड़ा संग्रह है।
2. ललित कला अकादमी- जो सभी उभरते कलाकारों को विभिन्न कला क्षेत्रों में संरक्षण प्रदान करती है और उन्हें एक नई पहचान देती है।भारतीय चित्रकला के शदंगा।

1 शताब्दी ईसा पूर्व शदंगा या भारतीय चित्रकारी के छः अंग, विकसित किए गए थे, कला के मुख्य सिद्धांतों को बिछाने वाले सिद्धांतों की एक शृंखला। वत्सयान, जो तीसरी शताब्दी ईस्वी के दौरान रहते थे, इन्हें अपने कामसूत्र में बताते हैं कि उन्हें अब भी और अधिक प्राचीन कार्यों से निकाला गया है।

इन 'छः अंगों' का अनुवाद निम्नानुसार किया गया है–

Rupabheda उपस्थिति का ज्ञान।

प्रमानम सही धारणा, माप और संरचना।

भव रूपों पर भावनाओं की क्रिया।

लवान्या योजना, कृपा, कलात्मक प्रतिनिधित्व का आवेग।

ब्रश और रंगों का उपयोग करने के वर्निकिकंगा कलात्मक तरीके। (टैगोर।)

बौद्धों द्वारा चित्रकला के बाद के विकास से संकेत मिलता है कि इन 'छः अंगों' को भारतीय कलाकारों द्वारा अभ्यास में रखा गया था और वे बुनियादी सिद्धांत हैं, जिन पर उनकी कला की स्थापना की गई थी।

भारतीय चित्रकला के शैलियों

भारतीय चित्रों को व्यापक रूप से murals और लघुचित्र के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। मुराल ठोस संरचनाओं की दीवारों पर निष्पादित

बड़े काम हैं, जैसे–अजंता गुफाओ और कैलाशनाथ मंदिर में। छोटे चित्रों को कागज और कपड़े जैसे–विनाशकारी सामग्री पर पुस्तकों या एल्बमों के लिए बहुत ही छोटे पैमाने पर निष्पादित किया जाता है। बंगाल के पाल भारत में लघु चित्रकला के अग्रणी थे। मुगल काल के दौरान लघु चित्रकला की कला अपनी महिमा तक पहुंच गई। छोटी पेंटिंग्स की परंपरा बंडी, किशनगढ़, जयपुर, मारवार और मेवार जैसे–चित्रकला के विभिन्न राजस्थानी स्कूलों के चित्रकारों द्वारा आगे की गई थी। रागमाला पेंटिंग्स भी इस स्कूल से संबंधित हैं, जैसा कि ब्रिटिश राज के तहत ब्रिटिश ग्राहकों के लिए कंपनी पेंटिंग का उत्पादन होता है।

प्राचीन भारतीय कला ने 1930 के दशक में बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट का उदय देखा है, इसके बाद यूरोपीय और भारतीय शैलियों में कई प्रकार के प्रयोग हुए हैं। भारत की आजादी के बाद, जमीनी रॉय, एमएफ हुसैन, फ्रांसिस न्यूटन सूजा और वासुदेव एस गायतोंडे जैसे–महत्त्वपूर्ण कलाकारों द्वारा विकसित कला के कई नए शैलियों। अर्थव्यवस्था की प्रगति के साथ कला के रूपो और शैलियों में भी कई बदलाव हुए। 1990 के दशक में, भारतीय अर्थव्यवस्था को उदार बनाया गया और विश्व अर्थव्यवस्था में एकीकृत किया गया, जिससे सांस्कृतिक सूचनाओं के भीतर और बिना मुक्त प्रवाह हो गया। कलाकारों में सुबोध गुप्ता, अतुल दोडिया, देवज्योति रे, बोस कृष्णमचारी और जितीश कहलट शामिल हैं, जिनके काम अंतरराष्ट्रीय बाजारों में नीलामी के लिए गए थे। भारती दयाल ने पारंपरिक मिथिला चित्रकला को सबसे समकालीन तरीके से संभालने का चयन किया है और अपनी कल्पना के अभ्यास के माध्यम से अपनी शैली बनाई है, वे ताजा और असामान्य दिखाई देते हैं।

भित्ति चित्र

भारतीय मूर्तियों का इतिहास प्राचीन और प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में, दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से 8 वीं–10 वीं शताब्दी ईस्वी तक शुरू होता है। भारत के आस–पास 20 से अधिक स्थानों को ज्ञात किया गया है, जिसमें इस अवधि से मूर्तियां हैं, मुख्य रूप से प्राकृतिक गुफाए और रॉक–कट कक्ष। इस समय की सबसे ज्यादा उपलब्धियां अजंता, बाग, सिट्टानावास, अर्मामालाई गुफा (तमिलनाडु), रावण छाया रॉक आश्रय, एलोरा गुफाओं में कैलासनाथ मंदिर की गुफाएं हैं।

इस अवधि के मुसलमान बौद्ध, जैन और हिंदू धर्मों के मुख्य रूप से धार्मिक विषयों को दर्शाते हैं। ऐसे स्थान भी हैं, जहां जोगिमारा गुफा में प्राचीन

रंगमंच कक्ष और 7 वीं शताब्दी ईस्वी–रावण छया रॉक आश्रय के संभावित शाही शिकार लॉज जैसे–विशाल परिसर को सजाने के लिए पेंटिंग किए गए थे।

बड़े पैमाने पर दीवार चित्रकला का पैटर्न जिसने दृश्य पर हावी थी, 11 वी और 12 वीं सदी के दौरान लघु चित्रों के आगमन को देखा। इस नई शैली ने पहली बार हथेली के पत्ते पांडुलिपियों पर चित्रित चित्रों के रूप में चित्रित किया। इन पांडुलिपियों की सामग्रियों में बौद्ध धर्म और जैन धर्म पर साहित्य शामिल था। पूर्वी भारत में, बौद्ध धर्म की कलात्मक और बौद्धिक गतिविधियों के प्रमुख केंद्र पाल साम्राज्य (बंगाल और बिहार) में स्थित नालंदा, ओदांतपुरी, विक्रमशिला और सोमरपुरा थे।

पूर्वी भारत चित्रकला

पूर्वी भारत में लघु चित्रकला 10 वीं शताब्दी में विकसित हुई थी। बुद्ध के जीवन से बौद्ध देवताओ और दृश्यों को दर्शाते हुए ये लघुचित्र हथेली के पत्ते के पांडुलिपियों के साथ-साथ उनके लकड़ी के कवर के पत्तों (लगभग 2.25 से 3 इंच) पर चित्रित किए गए थे। सबसे आम बौद्ध सचित्र पांडुलिपियों में ग्रस्त अस्थसासिका प्रजनपारामिता, पंचारक्ष, करंदवीयु और कालचक्र तंत्र शामिल हैं। सबसे पुराना लघु लघुचित्र महापाला (सी। 993) के छठे राजवंश वर्ष में स्थित अस्थसहासिका प्रजनपारामिता की पांडुलिपि में पाया जाता है, वर्तमान में कोलकाता के एशियाटिक सोसाइटी का कब्जा है। 12 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यह शैली भारत से गायब हो गई।

पश्चिमी भारतीय लघु चित्रकारी

लघु चित्रकारी सुंदर हस्तनिर्मित चित्र हैं, जो काफी रंगीन हैं, लेकिन आकार में छोटे हैं। इन चित्रों का मुख्य आकर्षण जटिल और नाजुक ब्रशवर्क है, जो उन्हें एक अनूठी पहचान देता है। रंग हस्तनिर्मित हैं, खनिजों, सब्जियों, कीमती पत्थरों, इंडिगो, शंख के गोले, शुद्ध सोने और चांदी से। 17 वीं शताब्दी के आस-पास, पश्चिमी हिमालय में भारतीय लघुचित्र चित्रों का विकास शुरू हुआ

इन लघु चित्रों के विषय अधिकतर धार्मिक और साहित्यिक पांडुलिपियों के विषयों के संबंध में हैं। कई चित्र संस्कृत और लोक साहित्य से हैं। यह प्रेम कहानियों के विषय पर है। हिंदू धर्म के वैष्णव संप्रदाय से कुछ चित्र और कुछ

जैन संप्रदाय से हैं। वैष्णव संप्रदाय की पेंटिंग्स भगवान कृष्ण और गोपी के जीवन के विभिन्न अवसरों के बारे में हैं। "गीता गोविंदा" की वैष्णव पेंटिंग्स भगवान कृष्ण के बारे में हैं। जैन संप्रदाय की चित्र जैन लॉर्ड्स और धार्मिक विषयों से संबंधित है।

ये चित्र "तादपतरा" पर बनाए गए थे, जिसका अर्थ है हथेली के पेड़ का पत्ता और पेपर। उस अवधि के दौरान पहले पांडुलिपियों को हथेली के पेड़ के पत्ते से और बाद में कागज से बनाया गया था।

इन चित्रों में सामने के चेहरे के साथ बहुत कम मानव पात्र हैं। अधिकांश मानव पात्रों को साइड प्रोफाइल के साथ देखा जाता है। बड़ी आंखें, नुकीली नाक और पतली कमर इन चित्रों की विशेषताएं हैं। मानव के त्वचा के रंग ब्राउन और मेले हैं। भगवान कृष्ण का त्वचा रंग नीला है। बाल और आंखों का रंग काला है। महिला पात्रों के लंबे बाल होते हैं। मानव पात्रों ने हाथ, नाक, गर्दन, बाल, कमर और एड़ियों पर आभूषण पहना है। पुरुष और महिलाएं पारंपरिक भारतीय पोशाक, चप्पले और जूते पहनती हैं। पुरुष अपने सिर पर टर्बा पहनते हैं। इन चित्रों में पेड़, नदियों, फूलों, पक्षियों, भूमि, आकाश, घर, पारंपरिक कुर्सियां, कुशन, पर्दे, दीपक और मानव पात्रों को चित्रित किया गया है।

इन चित्रों में ज्यादातर प्राकृतिक रंगों का उपयोग किया गया है। चित्रों को सजाने के लिए काले, लाल, सफेद, भूरा, नीले और पीले रंग के रंगों का उपयोग किया जाता है।

राजाओं, राजाओं के धूर्त, अमीर व्यापारियों और उस समय के धार्मिक नेताओं ने इन लघु चित्रों के प्रमोटर थे।

इन तस्वीरों के चित्रकार स्थानीय समाज से थे। "वाचक" उस समय के प्रसिद्ध चित्रकार थे। चित्रकारों ने पांडुलिपि के विषय को इन चित्रों से जीने की कोशिश की, ताकि पांडुलिपि के पाठक पढ़ने का आनंद उठा सकें।

चित्रकला के मालवा, दक्कन और जौनपुर स्कूल

पांडुलिपि चित्रण में एक नई प्रवृत्ति नासीर शाह (1500–1510) के शासनकाल के दौरान मंडु में चित्रित निमात्नाम की एक पांडुलिपि द्वारा निर्धारित की गई थी। यह स्वदेशी और संरक्षित फारसी शैली के संश्लेषण का प्रतिनिधित्व करता है, हालांकि यह बाद वाला था जो मंडु पांडुलिपियों पर हावी था। चित्रकला की एक और शैली थी, जिसे लोदी खुलादार के नाम से जाना जाता

था जो उत्तर भारत के सुल्तानत के प्रभुत्व में दिल्ली से जौनपुर तक फैल गया था।

लघु चित्रकला शैली, जो शुरुआत में बहमनी अदालत में विकसित हुई और बाद में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकोंडा की अदालतों में लोकप्रिय रूप से चित्रकारी के दक्कन स्कूल के रूप में जाना जाता है। सबसे पुरानी जीवित चित्रों में से एक एक पांडुलिपि टैरिफ-ए-हुसैन शाही (सी .16565) के चित्रों के रूप में पाया जाता है, जो अब भरत इतिहासा समोधोध मंडला, पुणे में है। न्यूजूम चेस्टर बीटी लाइब्रेरी, डबलिन में रखे नुजुम-उल-उलम (विज्ञान के सितारे) (1570) की पांडुलिपि में लगभग 400 लघु चित्र पाए जाते हैं।

मुगल चित्रकला

मुगल चित्रकला भारतीय चित्रकला की एक विशेष शैली है, जो आम तौर पर पुस्तक पर चित्रों तक सीमित होती है और लघुचित्रों में होती है और 16 वीं-19 वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की अवधि के दौरान उभरा, विकसित और आकार ले लिया।

मुगल चित्र भारतीय, फारसी और इस्लामी शैलियों का एक अद्वितीय मिश्रण थे। चूंकि मुगल राजा शिकारी और विजेताओं के रूप में अपने कर्मों के दृश्य रिकॉर्ड चाहते थे, उनके कलाकार उनके साथ सैन्य अभियान या राज्य के मिशन पर थे या पशु की हत्या के रूप में अपनी शक्ति दर्ज की थी या उन्हें विवाह के महान राजवंश समारोहों में चित्रित किया था।

अकबर के शासनकाल (1556-1605) ने भारतीय लघु चित्रकला में एक नया युग शुरू किया। उन्होंने अपनी राजनीतिक शक्ति को समेकित करने के बाद, उन्होंने फतेहपुर सीकरी में एक नई राजधानी बनाई, जहां उन्होंने भारत और फारस के कलाकारों को एकत्रित किया। वह पहले राजा थे, जिन्होंने भारत में दो फारसी मास्टर कलाकारों, मीर सय्यद अली और अब्दुस समद की देख-रेख में एक अटेलियर की स्थापना की थी। इससे पहले, दोनों ने काबुल में हुमायूं के संरक्षण के तहत सेवा की थी और 1555 में जब उन्होंने अपना सिंहासन वापस ले लिया था, तब उनके साथ भारत आए थे। इनमें से सौ से अधिक चित्रकार नियोजित थे, जिनमें से अधिकांश गुजरात, ग्वालियर और कश्मीर से हिंदू थे, जिन्होंने एक पेंटिंग के एक नए स्कूल के लिए जन्म, जिसे मुगल स्कूल ऑफ लघु पेंटिंग्स के नाम से जाना जाता है।

लघु चित्रकला के उस स्कूल के पहले प्रस्तुतियों में से एक हम्जानामा शृंखला थी, जो कि अदालत के इतिहासकार बदायुनी के अनुसार 1567 में शुरू हुई थी और 1582 में पूरी हुई थी। पैगंबर के एक चाचा अमीर हमजा की कहानियां हमजानामा को सचित्र थीं मीर सय्यद अली द्वारा। हमजानामा की पेंटिंग्स बड़े आकार के हैं, 20 x 27 और कपड़े पर चित्रित किए गए थे। वे फारसी सफवी शैली में हैं। शानदार लाल, नीले और हरे रंग के रंग प्रमुख हैं, गुलाबी, क्षीण चट्टानो और वनस्पति, विमान और खिलने वाले बेर और आड़ू के पेड़ फारस की याद दिलाते हैं, हालांकि, भारतीय कलाकारों को बाद में काम में दिखाई देता है, जब भारतीय कलाकारों को नियोजित किया जाता था।

उसके बाद, जहांगीर ने कलाकारों को चित्रो और दरबार दृश्यों को पेंट करने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके सबसे प्रतिभावान चित्रकार चित्रकार उस्ताद मंसूर, अबुल हसन और विशंदस थे।

शाहजहां (1627–1658) ने पेंटिंग के संरक्षण को जारी रखा। इस अवधि के कुछ प्रसिद्ध कलाकार मोहम्मद फैकीरुल्ला खान, मीर हाशिम, मुहम्मद नादिर, बिचिटर, चित्रमान, अनुपचतर, मनोहर और होनहार थे।

औरंगजेब को ललित कला के लिए कोई स्वाद नहीं था। संरक्षक कलाकारों की कमी के कारण डेक्कन में हैदराबाद और राजस्थान के हिंदू राज्यों में नए संरक्षकों की तलाश में स्थानांतरित हो गया।

राजपूत पेंटिंग

राजपूत चित्रकला, भारतीय चित्रकला की एक शैली, 18 वीं शताब्दी के दौरान, राजपूताना, भारत की शाही अदालतों में विकसित और विकसित हुई। प्रत्येक राजपूत साम्राज्य ने एक विशिष्ट शैली विकसित की, लेकिन कुछ सामान्य विशेषताओं के साथ। राजपूत चित्रों में कई विषयों, रामायण और महाभारत, कृष्णा के जीवन, सुंदर परिदृश्य और मनुष्यों जैसे–महाकाव्य की घटनाएं दर्शाती हैं। लघुचित्र राजपूत चित्रकला का पसंदीदा माध्यम थे, लेकिन कई पांडुलिपियों में राजपूत चित्र भी शामिल थे और महल की दीवारों, किलों के आंतरिक कक्ष, हवेली, विशेष रूप से, शेखावती के हवेली पर चित्र भी किए गए थे।

कुछ खनिज, पौधे के स्रोत, शंख के गोले से निकाले गए रंग और यहां तक कि कीमती पत्थरों, सोने और चांदी के प्रसंस्करण द्वारा व्युत्पन्न किए गए

थे। वांछित रंगों की तैयारी एक लंबी प्रक्रिया थी, कभी-कभी हफ्तों लेती थी। इस्तेमाल ब्रश बहुत अच्छे थे।

मैसूर पेंटिंग

मैसूर चित्रकला शास्त्रीय दक्षिण भारतीय चित्रकला का एक महत्त्वपूर्ण रूप है, जो कि कर्नाटक के मैसूर शहर में हुई थी। ये चित्र उनके लालित्य, म्यूट रंग और विस्तार पर ध्यान के लिए जाने जाते हैं। इनमें से अधिकांश चित्रों के लिए थीम हिन्दू देवताओ और देवियो और हिंदू पौराणिक कथाओं के दृश्य हैं। आधुनिक समय में, ये चित्र दक्षिण भारत में उत्सव के अवसरों के दौरान बहुत अधिक मांग के बाद स्मारिका बन गए हैं।

मैसूर चित्रकला बनाने की प्रक्रिया में कई चरणों शामिल हैं। पहले चरण में आधार पर छवि के प्रारंभिक स्केच बनाने का समावेश होता है। आधार में लकड़ी के आधार पर चिपकने वाले कारतूस पेपर होते हैं। जस्ता ऑक्साइड और अरबी गम से बने पेस्ट को "गेसो पेस्ट" कहा जाता है। एक पतली ब्रश की मदद से सभी आभूषणो और सिंहासन के हिस्सों या आर्क जो कुछ राहत प्राप्त करते हैं, वे नक्काशी के थोड़ा सा प्रभाव देने के लिए चित्रित होते हैं। इसे सूखने की अनुमति है। इस पतले सोने के पन्नी पर चिपकाया जाता है। बाकी ड्राइंग को पानी के रंगों का उपयोग करके चित्रित किया जाता है। केवल म्यूट रंगों का उपयोग किया जाता है।

तंजौर पेंटिंग

तंजौर पेंटिंग तमिलनाडु में तंजौर शहर के मूल निवासी शास्त्रीय दक्षिण भारतीय चित्रकला का एक महत्त्वपूर्ण रूप है। कला का स्वरूप 9वीं शताब्दी की शुरुआत में था, जो चोल शासकों का प्रभुत्व था, जिन्होंने कला और साहित्य को प्रोत्साहित किया था। ये चित्र उनके लालित्य, समृद्ध रंगों और विस्तार पर ध्यान देने के लिए जाने जाते हैं। इनमें से अधिकांश चित्रों के लिए थीम हिन्दू देवताओ और देवियो और हिंदू पौराणिक कथाओं के दृश्य हैं। आधुनिक समय में, ये चित्र दक्षिण भारत में उत्सव के अवसरों के दौरान बहुत अधिक मांग के बाद स्मारिका बन गए हैं।

तंजौर पेंटिंग बनाने की प्रक्रिया में कई चरण शामिल हैं। पहले चरण में आधार पर छवि के प्रारंभिक स्केच बनाने का समावेश होता है। आधार में एक

लकड़ी के आधार पर चिपका हुआ कपड़ा होता है। फिर चाक पाउडर या जस्ता ऑक्साइड पानी घुलनशील चिपकने वाला के साथ मिलाया जाता है और इसे आधार पर लागू किया जाता है। आधार को चिकना बनाने के लिए, कभी-कभी हल्के घर्षण का उपयोग किया जाता है। चित्र बनाने के बाद, गहने की सजावट और छवि में परिधान अद्धा कीमती पत्थरों के साथ किया जाता है। गहने को सजाने के लिए लेस या धागे का भी उपयोग किया जाता है। इसके ऊपर, सोने के फोइल चिपकाए जाते हैं। अंत में, रंगों में चित्रों में रंग जोड़ने के लिए रंगों का उपयोग किया जाता है।

कंगड़ा पेंटिंग

यह शैली 18 वीं शताब्दी के पूर्वाद्धा में गुलर राज्य में हुई थी और महाराजा संसार चंद काटोच के शासनकाल के दौरान अपने चरम पर पहुंच गई थी।

मधुबनी पेंटिंग

मधुबनी चित्रकला चित्रकला की एक शैली है, बिहार राज्य के मिथिला क्षेत्र में प्रचलित है। थीम्स हिंदू देवताओ और पौराणिक कथाओं के आस-पास घूमते हैं, शाही अदालत के दृश्यो और शादियों जैसे–सामाजिक कार्यक्रमों के साथ। आम तौर पर कोई जगह खाली नहीं छोड़ी जाती है, अंतराल फूलों, जानवरों, पक्षियों और यहां तक कि ज्यामितीय डिजाइनों के चित्रों से भरे हुए हैं। इस चित्रों में, कलाकार चित्रों को आकर्षित करने के लिए उपयोग किए जाने वाले रंग को बनाने के लिए पत्तियों, जड़ी बूटियो और फूलों का उपयोग करते हैं।

पट्टचित्र

पट्टाचित्र भारत के पूर्वी क्षेत्र में पश्चिम बंगाल और ओड़िशा की शास्त्रीय पेंटिंग को संदर्भित करता है। संस्कृत में 'पट्टा' का अर्थ है 'शास्त्र' या 'कपड़ा' और 'चित्र' का मतलब पेंटिंग्स है।

बंगाल Patachitra पश्चिम बंगाल की पेंटिंग को संदर्भित करता है। यह पश्चिम बंगाल की पारंपरिक और पौराणिक विरासत है। बंगाल पटचित्र को दुर्गा पट, चालचित्र, आदिवासी पटचित्र, मेदिनीपुर पटचित्र, कालीघाट पटचित्र और आदि जैसे–कुछ अलग-अलग पहलुओं में बांटा गया है। बंगाल

पटचित्र का विषय ज्यादातर पौराणिक, धार्मिक कहानियां, लोक कथा और सामाजिक है। कालीघाट पटचित्र, बंगाल पटचित्र की आखिरी परंपरा जैमिनी रॉय द्वारा विकसित की गई है। बंगाल पटचित्र के कलाकार को पटुआ कहा जाता है।

ओरिशा पट्टाचित्र की परंपरा भगवान जगन्नाथ की पूजा से निकटता से जुड़ी हुई है। छठी शताब्दी ईस्वी के खंडदागिरी और उदयगिरी और सीताभिनजी उनतंसे की गुफाओं पर पेंटिंग के खंडित साक्ष्य के अलावा, ओड़िशा की सबसे पुरानी स्वदेशी चित्र चित्रकारों द्वारा चित्रित पट्टाचित्र हैं (चित्रकारों को चित्रकार कहा जाता है)। वैष्णव संप्रदाय के चारो और उड़िया पेंटिंग केंद्रों का विषय। पट्टाचत्र संस्कृति की शुरुआत के बाद से भगवान जगन्नाथ जो भगवान कृष्ण का अवतार थे प्रेरणा का प्रमुख स्रोत थे। पट्टा चित्र का विषय ज्यादातर पौराणिक, धार्मिक कहानिया और लोक कथा है। थीम्स मुख्य रूप से भगवान जगन्नाथ और राधा-कृष्ण, जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा के विभिन्न "वेस", मंदिर गतिविधियों, जयदेव के 'गीता गोविंदा', काम कुजारा नबा गुंजारा, रामायण, महाभारत के आधार पर विष्णु के दस अवतार हैं। देवताओ और देवी-देवताओं की व्यक्तिगत चित्रों को भी चित्रित किया जा रहा है। चित्रकार सब्जियो और खनिज रंगों का उपयोग कारखाने के लिए पोस्टर रंगों के बिना किए जाते हैं। वे अपने स्वयं के रंग तैयार करते हैं।

एक बहुत ही खतरनाक प्रक्रिया में पाउडरिंग, उबलते और फिल्टरिंग द्वारा शंख-गोले से सफेद रंग बनाया जाता है। इसके लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता है, लेकिन यह प्रक्रिया रंग के प्रतिभा और premanence देता है। एक खनिज रंग 'हिंगुला' लाल रंग के लिए प्रयोग किया जाता है। पीले रंग के पत्थर के तत्त्वों के राजा 'हरिताल', 'रामराज' नीले रंग के लिए एक प्रकार का इंडिगो इस्तेमाल किया जा रहा है। नारियल के गोले जलने से तैयार शुद्ध दीपक-काला या काले का उपयोग किया जाता है। इन 'चित्रकारों' द्वारा उपयोग किए जाने वाले ब्रश भी स्वदेशी होते है और घरेलू जानवरों के बाल होते हैं। एक बांस छड़ी के अंत से बंधे बाल का एक समूह ब्रश बना देता है। यह वास्तव में आश्चर्य की बात है कि ये चित्रकार इस तरह के परिशुद्धता की रेखाएं कैसे लाते है और इन कच्चे ब्रश की मदद से खत्म करते हैं। उड़िया चित्रकला की पुरानी परंपरा अभी भी पुरी, रघुराजपुर, परालाखेमुंडी, चिकीटी और सोनपुर में चित्रकारों (पारंपरिक चित्रकार) के कुशल हाथों में बनी हुई है।

बंगाल स्कूल

बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट कला की एक प्रभावशाली शैली थी, जो 20 वीं शताब्दी की शुरुआत में ब्रिटिश राज के दौरान भारत में विकसित हुई थी। यह भारतीय राष्ट्रवाद से जुड़ा था, लेकिन कई ब्रिटिश कला प्रशासकों द्वारा भी, उन्हें बढ़ावा दिया और समर्थित किया गया था।

बंगाल स्कूल एक अवंत गार्डे और राष्ट्रवादी आंदोलन के रूप में उभरा, जो पहले भारत में प्रचारित शैक्षिक कला शैलियों के खिलाफ प्रतिक्रिया करता था, दोनों भारतीय कलाकारों जैसे–रवि वर्मा और ब्रिटिश कला स्कूलों में। पश्चिम में भारतीय आध्यात्मिक विचारों के व्यापक प्रभाव के बाद, ब्रिटिश कला शिक्षक अर्नेस्ट बिनफील्ड हवेल ने छात्रों को मुगल लघुचित्रों की नकल करने के लिए प्रोत्साहित करके कलकत्ता स्कूल ऑफ आर्ट में शिक्षण विधियों में सुधार करने का प्रयास किया। इसने अत्यधिक विवाद पैदा किया, जिसके कारण स्थानीय प्रेस से छात्रो और शिकायतों की हड़ताल हुई, जिसमें राष्ट्रवादियों ने भी इसे एक प्रगतिशील कदम माना। हवेली को कवि रवींद्रनाथ टैगोर के एक भतीजे कलाकार अबानिंद्रनाथ टैगोर द्वारा समर्थित किया गया था। टैगोर ने मुगल कला से प्रभावित कई कामों को चित्रित किया, एक शैली है कि वह और हवेल पश्चिम के "भौतिकवाद" के विरोध में भारत के विशिष्ट आध्यात्मिक गुणों के अभिव्यक्तिपूर्ण मानते थे। अबानिंद्रनाथ टैगोर की सबसे प्रसिद्ध पेंटिंग, भारत माता (मदर इंडिया) ने एक युवा महिला को चित्रित किया, जिसमें हिंदू देवताओं के तरीके में चार हथियारों के साथ चित्रित किया गया, जिसमें वस्तुओं की भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का प्रतीक है, बाद में टैगोर ने कला के एक पैन–एशियाई मॉडल के निर्माण की आकांक्षा के हिस्से के रूप में सुदूर पूर्वी कलाकारों के साथ संबंध विकसित करने का प्रयास किया। इस इंडो–फारएस्टर्न मॉडल से जुड़े लोगों में नंदलाल बोस, मुकुल डे, कलीपाड़ा घोषाल, बेनोड बेहारी मुखर्जी, विनायक शिवराम मासोजी, बीसी सान्याल, बीहर राममानोहर सिन्हा और बाद में उनके छात्र ए रामचंद्रन, तन युआन चेमेली, रमनंद बंदोपाध्याय और कुछ शामिल थे। अन्य शामिल हैं।

भारतीय कला दृश्य पर बंगाल स्कूल का प्रभाव धीरे–धीरे आधुनिकतावादी विचारों के प्रसार के साथ कम हो रहा है। इस आंदोलन में केजी सुब्रमण्यन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। आज बांकुरा की रेडनोवा आर्ट एकेडमी, भारत कलाकार अब्रिलल द्वारा स्थापित कला योग्य अकादमी भी है।

प्रासंगिक आधुनिकतावाद

सांविधिक आधुनिकतावाद शब्द जिसे शिव कुमार प्रदर्शनी की सूची में इस्तेमाल करते हैं, शांतिनिकेतन कलाकारों ने कला की समझ में एक औपनिवेशिक महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में उभरा है।

आधुनिकता के पॉल गिल्रॉय की काउंटर संस्कृति और तानी बारलो के औपनिवेशिक आधुनिकता सहित कई शर्तों का उपयोग गैर-यूरोपीय संदर्भों में उभरे वैकल्पिक वैकल्पिकता के वर्णन के लिए किया गया है। प्रोफेसर गैल का तर्क है कि 'प्रासंगिक आधुनिकतावाद' एक अधिक उपयुक्त शब्द है, क्योंकि "औपनिवेशिक आधुनिकता में औपनिवेशिक अल्पसंख्यक स्थितियों में से कई लोगों को इनकार करने में असमर्थता को समायोजित नहीं करता है। शांतिनिकेतन के कलाकार शिक्षकों ने अधीनस्थता से इनकार करने से आधुनिकता का एक प्रतिबिंब शामिल किया, जिसने नस्लीय और सांस्कृतिक अनिवार्यता को सही करने की मांग की, जो शाही पश्चिमी आधुनिकता और आधुनिकता को चलाता और दिखाता है। उन यूरोपीय आधुनिकताओं, जो एक विजयी ब्रिटिश औपनिवेशिक शक्ति के माध्यम से प्रक्षेपित हुए, राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाओं को उकसाया, समान रूप से समस्याग्रस्त जब उन्होंने समान अनिवार्यताओं को शामिल किया।"

आर शिव कुमार के मुताबिक "शांतिनिकेतन कलाकार पहले व्यक्तियों में से एक थे, जिन्होंने आधुनिकतावाद के आधुनिक विचार और इतिहासकार स्वदेशी दोनों को चुनकर आधुनिकतावाद के इस विचार को चुनौती दी और एक संदर्भ संवेदनशील आधुनिकतावाद बनाने की कोशिश की।" वह शांतिनिकेतन स्वामी के काम का अध्ययन कर रहे थे और 80 के दशक के बाद से कला के दृष्टिकोण के बारे में सोच रहे थे। शिव कुमार के मुताबिक, बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट के तहत नंदलाल बोस, रवींद्रनाथ टैगोर, राम किन्कर बाईज और बेनोड बेहारी मुखर्जी को कम करने का अभ्यास था। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि प्रारंभिक लेखकों को कला शैली पर उनकी शैलियों, विश्वव्यापी और दृष्टिकोण के बजाय शिक्षुता की वंशावली द्वारा निर्देशित किया गया था।

साहित्यिक आलोचक रंजीत होस्कोट ने समकालीन कलाकार अतुल डोड़िया के कार्यों की समीक्षा करते हुए लिखा, "एक साहित्यिक चक्कर के माध्यम से संतिंकेटन के संपर्क में, कला इतिहासकार आर शिव कुमार ने" प्रासंगिक आधुनिकता "को विकसित करने के ऐतिहासिक परिस्थितियों में

डोडिया की आंखें खोलीं 1930 के दशक में पूर्वी भारत मे और वैश्विक अवसाद के अशांत दशकों के दौरान '40 के दशक में, गांधीवादी मुक्ति संघर्ष, टैगोरियन सांस्कृतिक पुनर्जागरण और द्वितीय विश्व युद्ध। "

हाल के अतीत में प्रासंगिक आधुनिकता ने अध्ययन के अन्य संबंधित क्षेत्रों में विशेष रूप से वास्तुकला में इसका उपयोग पाया है।

वर्नाक्युलर इंडियन पेंटिंग

वर्नाक्युलर आर्ट एक कला जीवित (समकालीन कला) है, जो अतीत (मिट्टी, परंपराओ और धर्म) पर आधारित है और परिभाषित समूहों द्वारा बनाई गई है। वर्नाकुलर कला इस समूह की सामूहिक स्मृति पर आधारित है।

वर्नाक्युलर इंडियन पेंटिंग के उदाहरण–

जनजातीय चित्रकारी

भील पेंटिंग
वारली पेंटिंग
गोंड पेंटिंग
संथाल पेंटिंग
सोरा पेंटिंग
ज्ञनतनउइं पेंटिंग

ग्रामीण चित्रकारी

पट्टाचित्र चित्रकला
मधुबनी पेंटिंग
कलामकारी चित्रकला
कोलम पेंटिंग
कलाम पेंटिंग
मंडाना पेंटिंग्स

आधुनिक भारतीय चित्रकारी

औपनिवेशिक युग के दौरान, पश्चिमी प्रभावों ने भारतीय कला पर प्रभाव डालना शुरू कर दिया। कुछ कलाकारों ने एक शैली विकसित की, जिसने

भारतीय विषयों को चित्रित करने के लिए रचना, परिप्रेक्ष्य और यथार्थवाद के पश्चिमी विचारों का उपयोग किया। जामिनी रॉय की तरह, दूसरों ने जानबूझकर लोक कला से प्रेरणा ली। भारती दयाल ने पारंपरिक मिथिला चित्रकारी को सबसे समकालीन तरीके से संभालने का चयन किया है और दोनों के लिए मिश्रित बहुत सारी कल्पनाओं के साथ यथार्थवाद और उनके काम में अमूर्तता दोनों का उपयोग किया है। उनके काम में संतुलन, सद्भाव और अनुग्रह की एक निर्दोष भावना।

1947 में आजादी के समय तक, भारत में कला के कई स्कूलों ने आधुनिक तकनीको और विचारों तक पहुंच प्रदान की। इन कलाकारों को प्रदर्शित करने के लिए गैलरी स्थापित की गई थी। आधुनिक भारतीय कला आमतौर पर पश्चिमी शैलियों का प्रभाव दिखाती है, लेकिन अक्सर भारतीय विषयो और छवियों से प्रेरित होती है। प्रमुख कलाकारों को शुरुआत में भारतीय डायस्पोरा में अंतरराष्ट्रीय मान्यता हासिल करना शुरू हो रहा है, लेकिन गैर-भारतीय दर्शकों के बीच भी।

1947 में भारत स्वतंत्र होने के कुछ ही समय बाद स्थापित प्रगतिशील कलाकार समूह, औपनिवेशिक युग के बाद भारत को व्यक्त करने के नए तरीकों को स्थापित करने का इरादा रखता था। संस्थापक छह प्रतिष्ठित कलाकार थे–केएच आरा, एसके बकरे, एचए गेड, एमएफ हुसैन, एसएच रजा और एफएन सूजा, हालांकि समूह को 1956 में भंग कर दिया गया था, यह भारतीय कला के मुहावरे को बदलने में गहरा प्रभावशाली था। 1950 के दशक में लगभग सभी भारत के प्रमुख कलाकार समूह से जुड़े थे। आजकल जाने वाले कुछ लोग बाल चब्दा, मनीशी डे, वीएस गायतोंडे, कृष्ण खन्ना, राम कुमार, तैयब मेहता, बेहोहर राममानोहर सिन्हा और अकबर पदमसी हैं। जहर दासगुप्त, प्रोकश कर्मकर, जॉन विल्किन्स और बिजन चौधरी जैसे–अन्य प्रसिद्ध चित्रकारों ने भारत की कला संस्कृति को समृद्ध किया। वे आधुनिक भारतीय कला का प्रतीक बन गए हैं। प्रो. राय आनंद कृष्ण जैसे–कला इतिहासकारों ने आधुनिक कलाकारों के उन कार्यों को भी संदर्भित किया है, जो भारतीय आचारों को प्रतिबिंबित करते हैं।

साथ ही, अंग्रेजी कला के साथ-साथ स्थानीय भाषा में भारतीय कला के बारे में भाषण में वृद्धि ने कला स्कूलों में कला को समझने के तरीके को विनियमित किया। गंभीर दृष्टिकोण कठोर हो गया, गीता कपूर, आर जैसे–आलोचकों। शिव कुमार ने भारत में समकालीन कला अभ्यास को फिर से सोचने में योगदान

दिया। उनकी आवाजें न केवल भारत में, बल्कि दुनिया भर में भारतीय कला का प्रतिनिधित्व करती हैं। महत्त्वपूर्ण प्रदर्शनियों के क्यूरेटर, आधुनिकता और भारतीय कला को फिर से परिभाषित करने के रूप में आलोचकों की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

1990 के दशक के शुरू से ही भारतीय कला को देश के आर्थिक उदारीकरण के साथ बढ़ावा मिला। विभिन्न क्षेत्रों के कलाकारों ने अब काम की विभिन्न शैलियों को लाने शुरू कर दिया। उदारीकरण के बाद भारतीय कला न केवल अकादमिक परम्पराओं की सीमाओं के भीतर, बल्कि इसके बाहर भी काम करती है। इस चरण में, कलाकारों ने भी नई अवधारणाएं पेश की हैं, जो अब तक भारतीय कला में नहीं देखी गई हैं। देवज्योति रे ने स्यूडोरेलाइज्म नामक कला की एक नई शैली पेश की है। स्यूडोरेलिस्ट आर्ट एक मूल कला शैली है, जिसे पूरी तरह से भारतीय मिट्टी पर विकसित किया गया है। छद्मवादवाद अमूर्तता की भारतीय अवधारणा को ध्यान में रखता है और भारतीय जीवन के नियमित दृश्यों को एक शानदार छवियों में बदलने के लिए इसका उपयोग करता है।

उदारीकरण के बाद भारत में, कई कलाकारों ने खुद को अंतरराष्ट्रीय कला बाजार में स्थापित किया है, जैसे–कि अनिश कपूर और चिंतन जिनके विशाल कलाकृतियों ने अपने आकार के लिए ध्यान आकर्षित किया है। भारतीय कलाकृतियों को प्रदर्शित करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप में कई कला घरो और दीर्घाओं को भी खोला गया है। कुछ कलाकार जैसे–कि चिमन डांगी (चित्रकार, प्रिंटमेकर) भूपत दुडी, सुबोध गुप्ता, प्यू सरकार, वागरम चौधरी, अमिताव सेनगुप्ता और कई अन्य ने दुनिया भर में जादू किया है। घोष एक प्रतिभाशाली चित्रकार है और त्रिवेणी आर्ट गैलरी, नई दिल्ली में काफी सक्रिय है।

भित्ति-चित्रकला

चित्रकला कला के सर्वाधिक कोमल रूपों में से एक है, जो रेखा और वर्ण के माध्यम से विचारों तथा भावों को अभिव्यक्ति देती है। इतिहास का उदय होने से पूर्व कई हजार वर्षों तक जब मनुष्य मात्रा गुफा में रहा करता था, उसने अपनी सौन्दर्यपरक अतिसंवेदनशीलता और सृजनात्मक प्रेरणा को संतुष्ट करने के लिए शैलाश्रय चित्र बनाए।

भारतीयों में वर्ण और अभिकल्प के प्रति लगाव इतना गहरा है कि प्राचीनकाल में भी इन्होंने इतिहास के समय के दौरान चित्रकलाओं तथा रेखाचित्रों का सृजन किया जिसका हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं।

भारतीय चित्रकला के साक्ष्य मध्य भारत की कैमूर श्रृंखला, विंध्य पहाड़ियो और उत्तर प्रदेश के कुछ स्थानों की कुछ गुफाओं की दीवारों पर मिलते हैं। ये चित्रकलाएं वन्य जीवों, युद्ध के जुलूसो और शिकार के दृश्यों का आदिम अभिलेख हैं। इन्हें अपरिष्कृत लेकिन यथार्थवादी ढंग से तैयार किया गया है। ये सभी आरेखण स्पेन की उन प्रसिद्ध शैलाश्रय की चित्रकलाओं से असाधारण रूप से मेल खाती हैं, जिनके संबंध में यह माना जाता है कि वे नवप्रस्तर मानव की कला कृतियां हैं।

प्रागैतिहासिक गुफा चित्रकारी भीमबेटका मध्यप्रदेश

हड़प्पन संस्कृति की सामग्री की सम्पदा को छोड़ दें तो भारतीय कला कई वर्षों के लिए समग्र रूप से हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है। भारतीय कला की खाई को अभी तक संतोषजनक रूप से भरा नहीं जा सका है। तथापि इस अंधकारमय युग के बारे में ईसा के जन्म से पूर्व और बाद की शताब्दियों से संबंधित हमारे पुराने सहित्य में से कुछ का हवाला दे कर कुछ थोड़ा-बहुत सीख सकते हैं। लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी ईसा पूर्व का एक बौद्ध पाठ, विनयपिटक विहार गृहों के कई स्थानों का हवाला देता है, जहां चित्रकक्ष हैं, जिन्हें रंग की गई आकृतियो और सजावटी प्रतिरूपों से सजाया गया था। महाभारत और रामायण कालीन प्रंसगों का भी वर्णन मिलता है, मूल रूप में इनकी संरचना अति पुराकाल की मानी जाती है। इस प्रारम्भिक भित्ति चित्रकलाओं को महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद के निकट स्थित अजन्ता के चित्रित किए गए गुफा मन्दिरों की ही भांति, बौद्ध कला की उत्तरवर्ती अवधियों की उत्कीर्ण और रंग की गई चित्रशालाओं का आदिपुरुष माना जा सकता है। चट्टान को छेनी से काट कर अर्धवृत्ता कार शैली में बनाई गई गुफाओं की संख्या 30 है। इनके निष्पादन में लगभग आठ शताब्दियों का समय लगा था। प्रारम्भिक शताब्दी संभवतः दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व और अन्तिम शताब्दी सातवीं शताब्दी ईसवी सन् के आस-पास है।

इन चित्रकलाओं की विषय-वस्तु छत और स्तम्भों के सजावटी प्रतिरूपों को छोड़कर, लगभग बुद्धवादी है। ये भगवान बुद्ध के पूर्ववर्ती जन्मों को

अभिलेखबद्ध करने वाली कहानियों के संग्रह 'जातक' से अधिकांश सहयोजित हैं। इन चित्रकलाओं की संरचनाएं विस्तार में बड़ी हैं, लेकिन अधिकांश आकृतियां आदमकद से छोटी हैं। अधिकांश अभिकल्पों में मुख्य पात्र वीरोचित आयाम में हैं।

संरचना की मुख्य विशेषताओं में एक केन्द्रीयता है, ताकि प्रत्येक दृश्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति पर ध्यान तत्काल चला जाए। अजन्ता की आकृतियों की रूपरेखाएं श्रेष्ठ है और सौन्दर्य तथा रूप के एक तीक्ष्ण अवबोधन को उद्घाटित करती हैं। शरीररचना के सटीकपन के लिए कोई अनुचित प्रयास नहीं किया गया है, क्योंकि आरेखण स्वाभाविक है। रंगसाजों ने बुद्ध की सच्ची महिमा को समझ लिया था और बुद्ध के जीवन से जुड़ी कहानी को उन्होंने यहां मानव जीवन के शाश्वत प्रतिरूप को स्पष्ट करने के मूलभाव के रूप में प्रयोग किया था। यहां जिन कहानियों को सचित्र दर्शाया गया है वे सतत और विस्तृत हैं तथा ये राजाओं के महलो और जनसाधारण के गांव-खेड़ों में मंचित प्राचीन भारत के नाटक को प्रस्तुत करते हैं। राजा और जनसाधारण जीवन के सौन्दर्यपूर्ण और आत्मिक मूल्यों की तलाश में समान रूप से लिप्त हैं।

अजन्ता की गुफा सं. नौ और दस में प्राचीनतम चित्रकलाएं है, जिनमें से एकमात्रा बची चित्रकला गुफा दस की बाई दीवार पर एक समूह है। इसमें एक राजा को अपने परिचरों के साथ पताकाओं से अलंकृत एक वृक्ष के समक्ष चित्रित किया गया है। राजा पवित्र बोधिवृक्ष तक राजकुमार से जुड़ी किसी मन्नत को पूरा करने के लिए आया है। राजकुमार राजा के निकट ही खड़ा है। यह खण्डित चित्रकला संरचना और निष्पादन दोनों ही क्षेत्रों की एक सुविकसित कला को दर्शाती है, जिसे परिपक्वता के इस चरण तक पहुँचने में कई शताब्दियां अवश्य लग गई होंगी। इस चित्रकला और अमरावती की मूर्तिकला और लगभग दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के प्रारम्भिक सातवाहन शासन के कालों के बीच मानव आकृतियों की वेश-भूषा, आभूषणों तथा जातीय विशेषताओं के बारे में इनके निरूपण में घनिष्ठ समानता है।

लगभग पहली शताब्दी ईसवी सन् से संबंधित इसी गुफा (गुफा सं. दस) की दाहिनी दीवार के साथ-साथ शददान्ता जातक भी अत्यधिक दीर्घ तथा सतत संरचना अजन्ता की एक अन्य बची चित्रकला है। यह चित्रकला सबसे सुन्दर चित्रकलाओं में से एक है, लेकिन दुर्भाग्यवश सबसे अधिक क्षतिग्रस्त चित्रकलाओं में से भी एक है और इसकी सराहना मात्रा स्थल पर जा कर ही की जा सकती है।

हमारे पास आगामी दो या तीन शताब्दियों की चित्रकलाओं का नगण्य प्रमाण है, लेकिन यह निश्चित है कि चित्रकलाएं अच्छी मात्रा में कभी न कभी विद्यमान रही होंगी। अजन्ता की चित्रकलाओं की आगामी शेष बची और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रृंखलाएं पांचवी और सातवीं शताब्दी ईसवी के बीच निष्पादित गुफा सं. 16,17,2 और 1 में हैं।

इस अवधि का एक सुन्दर उदाहरण वह चित्रकला है, जो आम तौर पर 'मरणासन्न राजकुमारी' कहलाने वाली के दृश्य को गुफा सं. 16 में सचित्र प्रस्तुत करती है, जिसे पांचवीं शताब्दी ईसवी सन् के प्रारम्भिक भाग में तैयार किया गया था। कहानी यह बताती है कि कैसे भगवान बुद्ध नन्द को, इस कन्या से छुड़ा कर स्वर्ग में ले जाते हैं, जो उससे भावपूर्ण रूप से प्यार करती है। अप्सराओं के सौन्दर्य से अभिभूत होकर, नन्द अपने सांसारिक प्यार को भूल गया था और स्वर्ग के एक लघु मार्ग के रूप में बौद्ध धर्मसंघ को अपना लिया था। समय के साथ उसने अपने वास्तविक लक्ष्य के मिथ्याभिमान को देख लिया और उसने बौद्ध धर्म को अपना लिया था, लेकिन उसकी प्रिय राजकुमारी को निर्दयतापूर्वक उसके भाग्य पर बिना किसी सांत्वना के छोड़ दिया गया था। यह अजन्ता की सर्वाधिक असाधारण चित्रकलाओं में से एक है, क्योंकि रेखा का संचलन अचूक और निश्चल है। रेखा का वह अनुकूलन सभी प्राच्य चित्रकलाओं की मुख्य विशेषता है और अजन्ता के कलाकारों की महानतम उपलब्धियों में से एक है। यहां मनोभाव और करुणा को शरीर के नियंत्रित घुमाव तथा संतुलन तथा भुजाओं की भावपूर्ण भांगिमाओं द्वारा व्यक्त किया गया है।

छठीं शताब्दी ईसवी सन् की गुफा सं. दस में उड़ती हुई अप्सराएं हैं। इस युग की विशेषता समृद्ध अलंकरण को उनकी मोतियो और फूलों से सजी पगड़ी में सुन्दरता से चित्रित किया गया है। कंठी का पीछे की ओर जाना दक्षतापूर्वक चित्रित अप्सरा की उड़ान का आभास देता है।

अजन्ता की बाद की चित्रकलाएं जो कुछ भी अब शेष हैं, कुल मिला कर उसका एक बड़ा हिस्सा हैं तथा इनका सृजन छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी सन् के मध्य में किया गया था तथा ये गुफा सं. दो एवं एक में हैं। ये विस्तार और आभूषणीय अभिकल्पों के साथ जातक की कहानियों को चित्रित करती हैं। गुफा सं. एक में महाजनक जातक के दृश्य इस युग की अजन्ता चित्रकलाओं के सर्वोत्तम बचे हुए उदाहरण हैं।

एक दृश्य में राजकुमार महाजनक, भावी बुद्ध, अपनी माता से साम्राज्य की समस्याओं के बारे में चर्चा कर रहे हैं, महारानी को अत्यधिक मनोहारी मुद्रा में दर्शाया गया है तथा वे अपनी दासियों से घिरी हुई हैं। इनमें से कुछ चंवर के साथ राजा के पीछे खड़ी हुई दिखाई दे रही हैं। एक अन्य प्रवचन में, राजकुमार अपने उस साम्राज्य पर पुनः विजय पाने के उद्देश्य से प्रस्थान करने से पूर्व सम्भवतः अपनी माता से सलाह ले रहा है, जिसे उसके चाचा ने हड़प लिया है।

राजकुमार का एक विस्तृत दृश्य उसके दाहिने हाथ की मनोहारी मुद्रा को दर्शाता है। कहानी का अगला दृश्य राजकुमारी की एक घोड़े की पीठ पर, उसके समस्त परिजनों सहित यात्रा को दर्शाता है। उसके अति उत्साही घोड़े द्वारा दृढ़ संकल्प को सुन्दरता से व्यक्त किया गया है, जबकि राजकुमार को सुकुमारता के एक सच्चे मूर्त रूप में दिखाया गया है, मानो करुणा से द्रवित हो रहा हो। इन तीन दासियों का संबंध राजसी भवन से है। इनमें से एक ने सफेद वस्त्र पहने हुए हैं, जिन पर बत्खों की एक सुन्दर अलंकारी आकृति बनी हुई है।

राजकुमार को अपने चाचा की राजधानी पहुंच कर यह पता चलता है कि उसके चाचा की अभी मृत्यु हो गई है और उसने उस व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी नामित किया है, जो उसकी पुत्री सिवाली का हाथ जीत सकेगा। सिवाली को राजकुमार से प्यार हो जाता है और शगुनानुसार राजकुमार द्वारा राजसिंहासन को ग्रहण करना नियत करते हैं, अतः उसे राजसिंहासन पर बैठा दिया जाता है और इसके पश्चामत खूब आनंद मनाया जाता है।

राज्यभिषेक समारोह का एक दृश्य है, जिसमें राजकुमार को अपने सिर के ऊपर दो जल-पात्रों की सहायता से स्नान करते हुए दिखाया गया है। दृश्य के बाई और एक दासी प्रसाधन किश्ती पकड़े हुए छतरी की ओर बढ़ रही है। यह राजसी अन्तःपुर को दर्शाता है, जिसमें राजा महाजनक वैभवपूर्ण शैली में बैठे हुए है और रानी सिवाली पूरी मनोहरता से अपने प्रीतम की ओर देख कर मुस्करा रही है। ये नृत्य और संगीत का आनंद ले रहे हैं।

आगामी दृश्य में वस्त्र धारण की हुई एक नर्तकी है, जिसने सुन्दर मुकुट धारण किया हुआ है, उसके केश पुष्पों से सजे हुए है और वह वृन्दवाद्य की संगत पर नृत्य कर रही है। बाई और दो महिलाएं बांसुरी बजा रही है और दाहिनी ओर कई महिला संगीतकार ढोल और मजीरा सहित विभिन्न वाद्य यंत्रों के साथ उपस्थित हैं। नर्तकी और संगीतकारों को रानी शिवाली ने आमंत्रित किया है,

ताकि राजा को रिझाया जा सके तथा उसका मनोरंजन किया जा सके एवं उसे विश्व का परित्याग करने के लिए हतोत्साहित किया जा सके। तथापि राजा महल की छत पर अतिसंयमी जीवन व्यतीत करने का निर्णय लेता है और वह एक एकान्तवासी से प्रवचन सुनने चला जाता है, जिससे उसके संकल्प को शक्ति मिल सकेगी। एक हाथी की पीठ पर उसकी यात्रा एक ऐसे राजसी जुलूस का निरूपण है, जो शाही मुख्य द्वार से होकर गुजर रहा है। कहानी के अन्तिम दृश्य में एक आश्रम के एक आंगन को चित्रित किया गया है, जिसमें राजा एकान्तवासी के प्रवचन को सुन रहा है।

गुफा एक की बोधिसत्व पद्मपाणि की चित्रकला अजन्ता चित्रकला की श्रेष्ठ कला-कृतियों में से एक है, जिसे छठी शताब्दी ईसवी सन् के अन्त में निष्पादित किया गया था। उसने राजसी शैली में एक नीलम जडित मुकुट पहना हुआ है, उसके लम्बे काले बाल मनोहारी रूप से झुक रहे हैं। रमणीय रीति से अलंकृत यह आकृति आदमकद से भी बड़ी है और इसमें उसके दाहिने हाथ कुछ-कुछ रुके हुए तथा कमल के एक पुष्प को पकड़े हुए दर्शाया गया है। एक समकालीन कला आलोचक के शब्दों में अपने दु:ख की अभिव्यक्ति कर रही है अपनी गहरी करुणा की अनुभूति में है। यह कला-कृति इसमें अपनी विशिष्टता दर्शाती है और इसका अध्ययन करने पर हम यह समझ पाएंगे कि आनन्दमय जीवन को सैदव के लिए त्याग देने की कड़वाहट भविष्य की प्रसन्नता के प्रति चाहत, आशा की एक भावना से मेल खाती है। कंधो और भुजाओं का सुदृढ़ प्रत्यक्ष आरेखण कुशलतापूर्वक अपने साधारण रूप में है। भौहें, जिन पर चहरे की अभिव्य क्ति काफी कुछ निर्भर करती है, साधारण रेखाओं द्वारा खींची गई हैं। कमल के पुष्प, को पकड़ने और हाथों की मुद्राओं को यहां जिस रूप में दिखाया गया है, अजन्ता के कलाकारों की महानतम उपलब्धि है।

ज्ञानोदय के पश्चात बुद्ध के जीवन की स्मरणीय घटनाओं में से एक अनुकृति को अजन्ता चित्रकलाओं की सर्वश्रेष्ठता के रूप में गुफा सं. 17 में निरूपित किया गया है, इसे लगभग छठीं शताब्दी ईसवी सन् में चित्रित किया गया था। यह कपिलवस्तु शहर में यशोधरा के आवास के द्वार तक बुद्ध की यात्रा का निरूपण करती है, जबकि वे स्वयं अपने पुत्र राहुल के साथ महान राजा से मिलने के लिए स्वयं बाहर आई हुई है। कलाकार ने बुद्ध की आकृति को बृहद आकार में बनाया है, ताकि एक साधारण मानव की तुलना में बुद्ध की आत्मिक महानता को स्पष्ट रूप से दर्शाया जा सके। उदाहरण के लिए, यशोधरा और

राहुल का निरूपण तुलनात्मक रूप से बहुत छोटा दिखाई देता है। बुद्ध का सिर सार्थक रूप से यशोधरा की ओर झुका हुआ है, जो अनुकम्पा और प्यार का द्योतक है। चेहरे के नाक-नक्शे का अभिलोपन हो गया है, लेकिन नेत्र स्पष्ट है और चिन्तनशील टकटकी मन का आत्मा में विलय का आभास देती है। महान राजा के सिर के आस-पास और इसके ऊपर एक प्रभामण्डल है—एक विद्याधारी राजा की पृथ्वी और स्वर्ग पर उनकी प्रमुखता के प्रमाणरूप छतरी पकड़ी हुई है।

द्वार के एक ओर नीचे यशोधरा और राहुल की आकृतियां चित्रित की गई है। राहुल आश्चर्यचकित प्यार से अपने पिता की ओर देख रहा है, क्योंकि वह तब मात्रा सात दिन का था, जब गौतम ने संसार का त्याग किया था। यशोधरा को प्राकृतिक सौन्दर्य के समस्त आकर्षण और वेश-भूषा तथा आभूषणों से बाह्य श्रृंगार के साथ दिखाया गया है। उनका आदर के बजाय प्यार की भावना से अधिक बुद्ध की ओर आकर्षक ढंग से देखना, ध्यान को अधिक आकर्षित करता है। इनके शरीर के अलग-अलग अंगों, मनोहारी मुद्रा का लयबद्ध निरूपण और उनकी कनपटी के ऊपर अलक में तथा इनके कंधों पर फैली हुई लटों में कूंची को दर्शाया गया सर्वोत्तम कार्य, ये सभी एक उच्च स्तर की कला को चित्रित करते हैं एवं इस चित्रकला को नारीजाति की मनोहरता और सौन्दर्य के सर्वश्रेष्ठ चित्रंकनों में से एक बनाते हैं।

अजन्ता के एक कलाकार की कल्पना के अनुसार एक नारी सुलभ सौन्दर्य के सुन्दर चित्रण की स्पष्टत: माया देवी के रूप में पहचान की गई है, जो कि बुद्ध की माता थीं, कलाकार जिनके सौन्दर्य का किसी कहानी के प्रसंग द्वारा प्रतिबंध के बिना ही वर्णन करना चाहता है। राजकुमार को उन सभी शारीरिक आकर्षणों के साथ चित्रित किया गया है, जिन्हें चित्रकार ने कुशलतापूर्वक प्रदर्शित किया है। चित्रकार ने राजकुमारी के लिए खड़ी मुद्रा का चयन किया है और प्राकृतिकता तथा मनोहारिता को शामिल करने के लिए उसने उसे एक खम्भे के सहारे से खड़े हुए दिखाया है, ताकि उसके छरहरे तथा इकहरे अंगों के सौन्दर्य की भली-भांति सराहना की जा सके। कलाकार ने उसके सिर के झुकाव के माध्यम से पुष्पों से सजे उसके बालों के अंधेरे कुण्डकलों के आकर्षण को बहुत चतुराई से दिखाया है।

बुद्ध की इन चित्रकलाओं के साथ चित्रकला की अभिरुचि की कुछ ब्राह्मणीय आकृतियां भी हैं।

इन धार्मिक चित्रकलाओं के अतिरिक्त, इन गुफा मन्दिरों की छतों तथा स्तम्भों पर सजावटी रूप रेखाएं हैं। महाकाव्यो और सतत जातक चित्रकलाओं से भिन्न, यहां पर सम्पूर्ण रूप रेखाएं अपने वर्गों के भीतर हैं। कलाकारों ने विश्व मे और उसके आस-पास के विश्व में समस्त वनस्पतियां तथा जीव-जंतुओं को पूरी निष्ठा से चित्रित किया गया है, लेकिन हमें रूप एवं वर्ण की कोई भी पुनरावृत्ति कहीं भी देखने के लिए नहीं मिलती है। अजन्ता के कलाकारों ने अपनी बोधगम्यता, मनोभाव और कल्पनाशक्ति को मुक्त कर दिया है, मानो जातक पाठ की उक्ति से उन्हें यहां अकस्मात ही छुटकारा मिल गया हो।

छत पर सजावट का एक उदाहरण गुफा 17 में मिलता है तथा इसका संबंध लगभग छठीं शताब्दी ईसवी सन् से है। 'लड़ता हुआ हाथी' इसी प्रकार की सजावटी चित्रकला से है तथा इसे विस्तार से देखा जा सकता है। यह असाधारण हाथी जीवित शरीर के उत्तम चित्रण का निरूपण करता है, जो गौरवपूर्ण संचलन तथा रेखीय लयबद्धता सहित उस पशु के प्रति नैसर्गिक है और इसे संभवत: कला की एक सर्वोत्तम कृति के रूप में कहा जा सकता है।

मध्य प्रदेश की बाघ गुफाओं की चित्रकलाएं अजन्ता की गुफा सं. एक और दो की चित्रकलाओं के सदृश हैं। शैलीगत दृष्टि से, दोनों का संबंध समान रूप से है, लेकिन बाघ की आकृतियों को अधिक दृढ़तापूर्वक कसौटी के अनुसार तैयार किया गया है तथा खाका भी प्रभावशाली है। ये अजन्ता की तुलना में अधिक सांसारिक और मानवीय हैं। दुर्भाग्यवश अब इनकी स्थिति ऐसी हो गई है कि अब इनकी स्थल पर जा कर ही सराहना की जा सकती है।

अभी तक ज्ञात प्राचीनतम ब्राह्मणीय चित्रकलाएं अपने खण्डित रूप में बादामी गुफाओं में गुफा सं. तीन में पाई जाती हैं तथा इनका संबंध लगभग छठीं शताब्दी ईसवी सन् से है। तथाकथित शिव और पार्वती कुछ भली-भांति संरक्षित रूप में पाए जाते हैं, हालांकि अजन्ता और बाघ की तकनीक का पालन किया गया है, प्रतिरूपण संरचना तथा अभिव्यक्ति में कहीं अधिक संवेदनशील है और खाका कोमल तथा लचीला है।

अजन्ता, बाघ और बादामी चित्रकलाएं उत्तर तथा दक्षिण की शास्त्रीय परम्परा का उत्तम रूप से प्रतिनिधित्व करती हैं। सित्तान्नवासल और चित्रकलाओं के अन्य केन्द्र दक्षिण में अपनी पैठ की सीमा को दर्शाते हैं। सित्तान्वासल की चित्रकलाएं जैन-विषयो और प्रतीक प्रयोग से घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं, लेकिन अजन्ता के ही समान मानदण्डों एवं तकनीक का प्रयोग करती हैं। इन

चित्रकलाओं की रूपरेखाओं को हल्की लाल पृष्ठभूमि पर गाढ़े रंग से चित्रित किया गया है। बरामदे की छत पर महान सौन्दर्य, पक्षियों सहित कमल के पुष्प तालाब, हाथियों, भैंसो और फूल तोड़ते हुए एक युवक के एक विशाल सजावटी दृश्य को चित्रित किया गया है।

भित्तिचित्र की आगामी शृंखला ऐलोरा में जीवित रूप में मिलती है, जो कि अत्यधिक महत्त्व के पवित्रता का एक स्थल है। आठवीं से दसवीं शताब्दी ईसवी सन् के बीच अनेक हिन्दू, बौद्ध और जैन मन्दिरों की खुदाई जीवित शैल से की गई थी। इनमें से सर्वाधिक प्रभावशाली कैलाशनाथ मन्दिर एक स्वतंत्र रूप से खड़ी हुई संरचना है, जो कि वास्तव में एकाश्मक है। इस मन्दिर के अलग-अलग भागों की छतों पर और कुछ सहयोजित जैन गुफा मन्दिरों की दीवारों पर चित्रकला के अनेक विखण्डित टुकड़े हैं।

ऐलोरा की मोटे किनारे वाली चित्रकलाओं की संरचना को आयताकार फलकों द्वारा मापा जाता है, अतः इनकी ऐसी चौखटों की निर्धारित सीमाओं के भीतर कल्पना की गई है, जो चित्रकला को धारण करते हैं, अतः अजन्ता की भांति ऐलोरा में विद्यमान नहीं है, जहां तक शैली का संबंध है, ऐलोरा की चित्रकलाएं अजन्ता की चित्रकलाओं के शास्त्रीय मानदण्ड से भिन्न हैं। द्रव्यमान और वृत्ताकार कोमल बहिर्रेखा तथा साथ ही साथ गहराई से बाहर निकलने के भ्रम के प्रतिरूपण की शास्त्रीय परम्परा की निस्संदेह पूर्णरूपेण अवहेलना नहीं की गई है, लेकिन ऐलोरा की चित्रकलाओं की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लाक्षणिक विशेषताएं हैं- सिर को असाधारण रूप से मोड़ना, भुजाओं पर चित्रित किए गए कोणीय मोड़, गुप्त अंगों का अवतल मोड़, तीखी, प्रक्षिप्त नाक और बड़े-बड़े नेत्र, जिनसे भारतीय चित्रकला की मध्यकालीन विशेषता को भली-भांति समझा जा सकता है।

ऐलोरा में गुफा मन्दिर सं. 32 की उड़ती हुई आकृतियों का संबंध नौवीं शताब्दी ईसवी सन् के मध्य से है और ये बादलों के बीच में से निर्बाध संचलन का एक सुन्दर उदाहरण है। शास्त्रीय युग में चेहरे पर अजन्ता प्रतिरूपण की वृत्ताकार सुनम्यता और मध्यकालीन प्रवृत्तियों की भुजाओं के कोणीय मोड़ जैसी दोनों विशेषताओं को यहां भली-भांति चिह्नित किया गया है। यह संभवतः संक्रान्ति काल का एक उत्पाद है।

दक्षिण भारत में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भित्तिचित्र तंजौर, तमिलनाडु में हैं। तंजौर के राजराजेश्वर मन्दिरों में नृत्य करती हुई आकृतियों का संबंध ग्यारहवीं

शताब्दी के प्रारम्भ से है तथा ये मध्यकालीन चित्रकलाओं का सुन्दर उदाहरण हैं सभी आकृतियों के पूरी तरह से खुले हुए नेत्र, झुके आधे खुले हुए नेत्रों की अजन्ता परम्परा को स्पष्ट रूप से नकारते हैं। ये आकृतियां अजन्ता की आकृतियों से कम संवेदनशील नहीं है और ये संचलन तथा जीवन-शक्ति के स्पन्दन से परिपूर्ण हैं।

तंजावुर के बृहदीश्वर मन्दिर की नृत्य करती हुई युवती के एक अन्य उदाहरण का संबंध भी इसी अवधि से है और यह निर्बाध संचलन तथा वक्र रूप का एक अद्वितीय निरूपण है। आकृति की पीठ और नितम्बों को सजीव तथा यथार्थ रूप में दर्शाया गया है, जिसमें बाईं टांग दृढ़तापूर्वक आधार पर टिकी हुई और दाहिनी टांग हवा में है। चेहरे को पार्श्विका में दर्शाया गया है, नाक और ठोढ़ी तीखी हैं, जबकि नेत्र पूरा खुला है। हाथ दूर तक फैले हुए हैं। जैसे–कि एक सुस्पष्ट रेखा हवा में झूल रही हो। मन्दिर की एक समार्पित नृत्यांगना की गुंजित रूप-रेखाओं सहित विकृत आकृति कला के परिष्करण को वास्तव में साकार रूप देती है और एक आकर्षक, प्रीतिकर तथा मनोहारी पर्व आंखों के लिए प्रस्तुत करती है।

भारत में भित्तिचित्र की अन्तिम शृंखला हिन्द पुर के निकट लेपाक्षी मन्दिर में पाई जाती हैं तथा इसका संबंध सोलहवीं शताब्दीं से है। इन चित्रकलाओं पर व्यापक रूप से चित्रवल्लरियों के भीतर रहते हुए बल दिया गया है और इसमें शैव तथा धर्मनिरपेक्ष विषयों को चित्रित किया गया है।

तीन खड़ी हुई महिलाएं अपने सुगठित रूपों तथा रूपरेखाओं सहित एक ऐसा दृश्य प्रस्तुत करती हैं, जो इस शैली में कुछ अनम्य बन गया है। आकृतियों को पार्श्विका में कुछ असामान्य रूप में दर्शाया गया है, विशेष रूप से चेहरों के निरूपण को जिसमें द्वितीय नेत्र को आकाश में क्षैतिज देखते हुए दिखाया गया है। इन आकृतियों की वर्ण योजना तथा अलंकरण अति मनोहारी है और भारतीय कलाकारों की अति परिष्कृत रुचि को सिद्ध करते हैं।

इसी मन्दिर का शूकर आखेट भी द्वि-आयामी चित्रकला का एक उदाहरण है, जो या तो दीवार या ताड़ के पत्ते अथवा कागज पर मध्यकालीन युग के अन्त की चित्रकलाओं की लगभग एक विशेषता बन गया है। इसके पश्चात भारतीय भित्तिचित्रकला में एक गिरावट प्रारम्भ हुई। यह कला अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी ईसवी सन् में एक अति सीमित पैमाने पर जारी रही। ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी पूर्व की अवधि के आगे से ताड़ के पत्तो और कागज पर लघुचित्रकला

के रूप से ज्ञात चित्रकला में अभिव्यक्ति की एक नई पद्धति पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी, जो संभवत: अधिक सरल तथा मितव्ययी थी।

केरल में त्रवणकोर के राजकुमार के शासनकाल में, राजस्थान में जयपुर के राजमहलों मे और हिमाचल प्रदेश में चम्बा राजमहल के रंगमहल में गिरावट की इस अवधि के कुछ भित्तिचित्र उल्लेखनीय हैं। चम्बा के रंगमहल की चित्रकलाओं पर इस संबंध में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की ये चित्रकला अपने मूल रूप में राष्ट्रीय संग्रहालय के पास हैं।

तकनीक

भारतीय भित्तिचित्रों के निर्माण की तकनीक तथा प्रक्रिया के बारे में चर्चा करना रुचिकर और संभवत: आवश्यक होगा। इस बारे में पांचवीं/छठीं शताब्दी के एक संस्कृत पाठ विष्णुधर्मोत्तरम् के एक विशेष अध्याय में चर्चा की गई है। इन चित्रकलाओं की प्रक्रिया उन सभी प्रारम्भिक उदाहरणों में समान प्रतीत होती है, जो अभी तक जीवित है। इनका एकमात्रा अपवाद तंजावुर का राजराजेश्वर मन्दिर है, जिसके संबंध में यह माना जाता है कि इसे शैल की सतह पर एक वास्तविक भित्तिचित्र शैली में तैयार किया गया है। अधिकांश वर्ण स्थानीय रूप से उपलब्ध थे। कूंची को बकरी, ऊंट, नेवला आदि पशुओं के बालों से तैयार किया गया था।

धरती पर चूना पलस्तर की एक अत्यधिक पतली परत से लेप किया गया और उसके ऊपर जलरंगों से चित्रकलाएं चित्रित की गई हैं। वास्तविक भित्तिचित्र पद्धति का अनुसरण करते हुए दीवार की सतह जब गीली होती है तब चित्र बनाए जाते हैं, ताकि रंगद्रव्य दीवार की सतह में अन्दर गहराई तक चले जाएं। जबकि भारतीय चित्रकला के अधिकांश मामलों में चित्रकला की जिस अन्य पद्धति का पालन किया गया था उसे सांसारिक या भित्तिचित्र के रूप में जाना जाता है। यह चूने के पलस्तर से की गई सतह पर चित्रकला करने की एक पद्धति है, जिसे पहले सूखने दिया जाता है और फिर चूने के ताजे पानी से भिगोया जाता है। इस प्रकार से प्राप्त सतह पर कलाकार अपनी रचना का सृजन करता है। एक अनुभवी हाथ ने इस प्रथम खाके को खींचा था और अन्तिम आरेखण के समय एक सुघड़ श्याम या गहरी भूरी रेखा से कई स्थानों पर बाद में सुधार किए गए थे। कलाकार द्वारा लाल रंग से अपनी प्रथम योजना तैयार

करने के पश्चात् वह इस पर एक अद्धा-पारदर्शी एकवर्णीय पक्की मिट्टी लगाने के लिए आगे बढ़ता है, जिसके माध्यम से रूपरेखा को देखा जा सकता है। इस प्रारम्भिक कांच पर कलाकार ने अपने स्थानीय रंगों से कार्य किया है। मुख्य रूप से गैरिक लाल, चटकीला लाल (सिंदूरी) गैरिक पीला, जम्बुकी नील, लाजवर्द, काजल, चाक सफेद, एकवर्ण और हरे रंग का प्रयोग किया गया था।

लघु चित्रकारी

1. पाल शैली (ग्यारहवीं से बारहवीं शताब्दियां)

भारत में लघु चित्रकला के सबसे प्राचीन उदाहरण पूर्व भारत के पाल वंश के अधीन निष्पादित बौद्ध धार्मिक पाठो और ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी ईसवी सन् के दौरान पश्चिम भारत में निष्पादित जैन पाठों के सचित्र उदाहरणों के रूप में विद्यमान हैं। पाल अवधि (750 ईसवी सन् से बारहवीं शताब्दी के मध्य तक) बुद्धवाद के अन्तिम चरण और भारत बौद्ध कला की साक्षी है। नालन्दा, ओदन्तपुरी, विक्रम-शिला और सोमारूप के बौद्ध महाविहार बौद्ध शिक्षा तथा कला के महान केन्द्र थे। बौद्ध विषयों से संबंधित ताड़-पत्ते पर असंख्य पाण्डुलिपियां इन केन्द्रों पर बौद्ध देवताओं की प्रतिमा सहित लिखी तथा सचित्र प्रस्तुत की गई थीं। इन केन्द्रों पर कांस्य प्रतिमाओं की ढलाई के बारे में कार्यशालाएं भी आयोजित की गई थीं। समूचे दक्षिण-पूर्व एशिया के विद्यार्थी और तीर्थयात्री यहां शिक्षा तथा धार्मिक शिक्षण के लिए एकत्र होते थे। वे अपने साथ कांस्य और पाण्डुलिपियों के रूप में पाल बौद्ध कला के उदाहरण अपने देश ले गए थे, जिससे पाल शैली को नेपाल तिब्बत, बर्मा, श्रीलंका और जावा आदि तक पहुचाने में सहायता मिली। पाल द्वारा सचित्र पाण्डुलिपियों के जीवित उदाहरणों में से अधिकांश का संबंध बौद्ध मत की वज्रयान शाखा से था।

नालंदा बिहार के सारीपुत्ता का स्तूप

पाल चित्रकला की विशेषता इसकी चक्रदार रेखा और वर्ण की हल्की आभाएं हैं। यह एक प्राकृतिक शैली है, जो समकालिक कांस्य पाषाण मूर्तिकला के आदर्श रूपों से मिलती है और अजन्ता की शास्त्रीय कला के कुछ भावों को प्रतिबिम्बित करती है। पाल शैली में सचित्र प्रस्तुत बुद्ध के ताड़-पत्ते पर प्ररूपी पाण्डु लिपि का एक उत्तम उदाहरण बोदलेयन पुस्तकालय, ऑक्सफार्ड, इंग्लैण्ड

में उपलब्ध है। यह अष्ट सहस्रिका प्रज्ञापारमिता, आठ हजार पंक्तियों में लिखित उच्च कोटि के ज्ञान की एक पाण्डुलिपि है। इसे पाल राजा, रामपाल के शासनकाल के पन्द्रहवें वर्ष में नालन्दा के मठ में ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में निष्पादित किया गया था। इस पाण्डुलिपि में छः पृष्ठों पर और साथ ही दोनों काव्य आवरणों के अन्दर की ओर सचित्र उदाहरण दिए गए हैं।

तेरहवीं शताब्दी के पूर्वाद्धा में मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा बौद्ध मठों का विनाश करने के पश्चात पाल कला का अचानक ही अंत हो गया। कुछ मठवासी और कलाकार बच कर नेपाल चले गए, जिसके कारण वहां कला की विद्यमान परम्पराओं को सुदृढ़ करने में सहायता मिली।

2. पश्चिमी भारतीय शैली (बारहवीं से सोलहवीं शताब्दी)

चित्रकला की पश्चिम भारतीय शैली गुजरात, राजस्थान और मालवा क्षेत्र में प्रचलित थी। पश्चिम भारत में कलात्मक क्रियाकलापों का प्रेरक बल जैनवाद था। अजन्ता और पाल कलाओं के मामले में बौद्धवाद की भांति, जैनवाद को चालुक्य वंश के राजाओं का संरक्षण प्राप्त था जिन्हों ने 961 ईसवी सन् से लेकर तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक गुजरात और राजस्थान के कुछ भागों तथा मालवा पर शासन किया। राजकुमारों, उनके मंत्रियो और समृद्ध जैनव्यापारियों ने धार्मिक पुण्यफल प्राप्त करने के लिए बारहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक जैन धर्म की पाण्डु लिपियों को भारी संख्या में बनवाया था। ऐसी कई पाण्डुलिपियां ऐसे जैन पुस्तकालयों (भण्डार) में उपलब्ध हैं, जो पश्चिमी भारत के कई स्थानों पर पाए जाते हैं।

इन पाण्डुलिपियों के सचित्र उदाहरण अत्यधिक विकृति की स्थिति में हैं। इस शैली में शरीर की कतिपय विशेषताओं, नेत्रों, वक्षस्थलो और नितम्बों की एक अतिशयोक्ति के विस्तार को देख पाते हैं। नाक-नक्शे की कोणीयता सहित आकृतियां सपाट है और नेत्र आकाश की ओर बाहर निकले हुए हैं। यह आदिम जीवन-शक्ति, सशक्त रेखा और प्रभावशाली वर्णों की एक कला है। लगभग 1100 से 1400 ईसवी सन् तक पाण्डुलिपियों के लिए ताड़-पत्ते का प्रयोग किया गया था और बाद में इसके प्रयोजनार्थ कागज को लाया गया था। जैन ग्रथों के दो अति लोकप्रिय ग्रंथ, यथा कल्पसूत्र और कालकाचार्य-कथा को बार-बार लिखा गया था और चित्रकलाओं के माध्यम से सचित्र किया गया था। कल्पसूत्र

की पाण्डुलिपियों के कुछ उल्लेखनीय उदाहरण अहमदाबाद के देवासनो पादो भण्डार में हैं। तकरीबन 1400 ईस्वी के कल्पसूत्र व कालकाचार्य कथा प्रिंस ऑव् वेल्स संग्रहालय, मुंबई में है। माण्डू में 1439 ईसवी सन् में निष्पादित कल्पसूत्र अब नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है। कल्पसूत्र को 1465 ईसवी सन् में जौनपुर में लिखा तथा रंगा गया था।

3. अन्य अलग-अलग शैलियां (1500-1550 ईसवी सन)

जैसा कि कल्पसूत्र की कुछ सचित्र पाण्डुलिपियों के किनारे पर दिखाई देने वाली फारसी शैली और शिकार के दृश्यों से स्पष्ट है, पन्द्रहवीं शताब्दी के दौरान चित्रकला की फारसी शैली ने चित्रकला की पश्चिम भारतीय शैली को प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया था। पश्चिम भारतीय पाण्डुलिपियों में गहरा नीला और सुनहरा रंग का प्रयोग प्रारम्भ हो जाना भी फारसी चित्रकला का प्रभाव समझा जाता है। भारत आनेवाली ये फारसी चित्रकलाएं सचित्र पाण्डुलिपियों के रूप में थीं। इन अनेक पाण्डुलिपियों की भारत में नकल तैयार की गई थी। इस प्रकार की नकलों में प्रयुक्त कुछ रंगों की फ्रीर गैलरी ऑफ आर्ट, वाशिंगटन मे और सदी के बुस्तान की एक सचित्र पाण्डुलिपि को राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में देखा जा सकता है। बुस्तान शैली को मालवा के सुल्तान नादिर शाह खिलजी (1500-1510 ई.) के लिए एक हाजी महमूद (चित्रकार) तथा शहसवार द्वारा निष्पादित किया गया था।

इण्डियन ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन में उपलब्ध निमत नामा (पाककला पुस्तक) मालवा की चित्रकला का एक सचित्र उदाहरण है। इस पाण्डुलिपि को मालवा के गियासलदीन खिलजी (1469-1500 ईसवी सन) के समय में लिखना प्रारम्भ किया था। इस पाण्डुलिपि के एक अवशेष को यहां स्पष्ट दर्शाया गया है। इसमें दासियों को भोजन पकाते हुए और गियासलदीन खिलजी को पर्यवेक्षण करते हुए दिखाया गया है। निमत नामा शैली में फारसी प्रभाव घुमावदार जैसे–बादलों, फूलों से लदे वृक्षों, घास-भरे गुच्छो और पृष्ठ भूमि में फूलों से लदे पौधों, महिलाओं की आकृतियों तथा परिधानों में दृष्टिगोचर है। कुछ महिला आकृतियो और उनके परिधानों तथा आभूषणों एवं वर्णों में भारतीय तत्त्व सुस्पष्ट हैं। इस पाण्डु लिपि में हम स्वदेशी भारतीय शैली के साथ शिराज की फारसी शैली के विलयन द्वारा चित्रकला की एक नई शैली के विकास की दिशा में प्रथम प्रयास को देख सकते हैं।

पैरिसियन चित्रकला

1. गीत-गोविन्द मेवाड़ चित्रकला की राजस्थान शैली

सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से संबंधित चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरणों का प्रतिनिधित्व लघु चित्रकला के एक समूह द्वारा किया जाता है, जिसे सामान्यत: 'कुल्हाकदार समूह' कहते हैं। इस समूह में 'चौरपंचाशिका'–'बिल्हण द्वारा चोर की पन्द्रह पंक्तियां, गीत गोविन्द, 'भागवत' पुराण और 'रागमाला' के सचित्र उदाहरण शामिल हैं। इन लघु चित्रकलाओं की शैली की विशेषता चटकीले विषम वर्णों, प्रभावशाली और कोणीय आरेखण, पारदर्शी वस्त्रों का प्रयोग करना तथा ऐसी शंकुरूप टोपियां 'कुलहा' का प्रकट होना है, जिन पर पुरुष आकृतियां पगड़ियां पहनती है।

चौरपंचाशिका लघु चित्रकला का एक उदाहरण चम्पावती को कमल के फूलों के एक तालाब के निकट खड़ी हुई दिखाया गया है। यह लघु चित्रकला एन.सी.मेहता संग्रह, मुम्बई में है। इसे छठीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में संभवत: मेवाड़ में निष्पादित किया गया था। इस चित्रकला की शैली शुद्ध स्वदेशी है और इसे पश्चिम भारत की कला की प्रारम्भिक परम्परा से लिया गया है और इस पर न तो फारसी और न ही मुगल शैली का कोई प्रभाव प्रतीत होता है।

लाउरचन्दा की दो पाण्डुलिपियां मुल्ला दाउद द्वारा एक अवधी प्रेमलीला की दो पाण्डुलिपियों में से एक प्रिंस ऑफ वेल्स् संग्रहालय, मुम्बई और अन्य जॉन रायलैंड्स पुस्तकालय मैनचेस्टर में है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें 1530 से 1540 ईसवी सन् के बीच मुस्लिम राजमहलों में बनाया गया है। मालवा के निमतनामा की भांति, ये फारसी और भारतीय शैलियों के एक मिश्रण को दर्शाती हैं। इस युग की दो अन्य महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियां मृगावती और महापुराण हैं, जो कि एक जैन ग्रन्थ है। इन्हें चौरपंचाशिका की शैली से संबंधित एक शैली में निष्पादित किया गया है।

2. मुगल शैली (1560-1800 ईसवी सन)

चित्रकला की मुगलशैली की शुरुआत को भारत में चित्रकला के इतिहास की एक युगान्तरकारी घटना समझा जाता है। मुगल साम्राज्य की स्थापना हो जाने के पश्चात् चित्रकला की मुगल शैली की शुरुआत सम्राट अकबर के शासनकाल में 1560 ईसवी सन् में हुआ था। सम्राट अकबर को चित्रकला और वास्तुकला

में अत्यधिक रुचि थी, जब वे एक बालक थे तब उन्होंने चित्रकला में शिक्षा ली थी। उनके शासन के प्रारम्भ में दो फारसी अध्यापकों मीर सयद अली और अब्दुतल समद खान की देख-रेख में एक शिल्पशाला की स्थापना की गई थी, जिन्हें मूल रूप से सम्राट अकबर के पिता हुमायूं ने नौकरी दी थी। समूचे भारत में बड़ी संख्या में भारतीय कलाकारों को फारसी उस्तादों के अधीन काम पर रखा गया था।

मुगल शैली का विकास चित्रकला की स्वदेशी भारतीय शैली और फारसी चित्रकला की सफाविद शैली के एक उचित संश्लेषण के परिणामस्वरूप हुआ था। प्रकृति के घनिष्ठ अवलोकन और उत्तम तथा कोमल आरेखण पर आधारित सुनम्य प्रकृतिवाद, मुगल शैली की एक विशेषता है। यह सौन्दर्य के उच्च गुणों से परिपूर्ण है तथा प्राथमिक रूप से वैभवशाली और निरपेक्ष है।

क्लीवलैण्ड कला संग्रहालय (यू एस ए) में तूती-नामा की एक सचित्र पाण्डुलिपि मुगल शैली की प्रथम कलाकृति प्रतीत होती है। इस चित्रकला की शैली में मुगल शैली अपने विकास-काल में दिखाई देती है। इसके शीघ्र पश्चात 1564-69 ईसवी सन् के बीच हमजा-नामा के रूप में एक अति महत्त्वाकांक्षी परियोजना पूरी की गई थी, जिसमें कपड़े पर सत्रह खण्डों में मूल रूप से 1400 पृष्ठ शामिल हैं, प्रत्येक पृष्ठ का आकार लगभग 27(20) है। हमजा-नामा की शैली तूती-नामा की अपेक्षा अधिक विकसित और परिष्कृत है।

कपड़े पर हमजा-नामा रेखाचित्र मुगलकालीन चित्रकला

हमजा-नामा के सचित्र उदाहरण स्विटजरलैण्ड के एक निजी संग्रह में हैं। ये एक मण्डप की ऊपरी मंजिल से एक बहुतलीय मीनार पर एक पक्षी के मिह्दुखत आखेट बाणों के साथ दिखाते हैं। इस लघु चित्रकला में हम यह देख सकते हैं कि वास्तुकला भारतीय फारसी है, वृक्षों की किस्मों को प्रमुख रूप से दक्कनी चित्रकला से लिया गया है और महिला आकृतियों का अनुकूलन राजस्थान की प्राचीन चित्रकला से किया गया है। महिलाओं ने चार कानों वाले नोकदार लहंगे तथा पारदर्शी मुस्लिम बुर्के पहने हुए हैं। पुरुषों ने जो पगडियां पहनी हुई हैं, वे छोटी तथा कसी हुई है और अकबर युग की प्रारूपी हैं। आगे चल कर मुगल शैली मुगल राजदरबारों में आने वाली यूरोपियाई चित्रकला से प्रभावित हुई और इसमें छायाकरण और परिप्रेक्ष्य जैसी पश्चिमी तकनीकों में से कुछ को आत्मसात किया गया।

अकबर के युग के दौरान चित्रित अन्य महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियां हैं- ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन में 1567 की सादी गुलिस्तां, स्कूल ऑफ ओरिएंटल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, लन्दन विश्वविद्यालय में 1570 की अनवरी-सुहावली (किस्से कहानी की एक पुस्तक) रॉयल एशियाटिक सोसायटी लाइब्रेरी में सादी की एक अन्य गुलिस्तां दीवान जिसकी 1581 में मोहम्मद हुसैन अल-कश्मीरी ने फतेहपुर सीकरी में एक प्रति तैयार की, हाफिज के बिब्लिओथिक नेशनल में कवि आमिर शाही का एक दीवान, जिनमें से एक ब्रिटिश संग्रहालय तथा चेस्टनर बिट्टी पुस्तकालय डबलिन में है और दूसरी चेस्टिर बिट्टी पुस्तकालय के फारसी अनुभाग में है। तूती-नामा की अन्य पाण्डुलिपि इसी पुस्तकालय में हैं। जयपुर महाराजा संग्रहालय, जयपुर के रजमनामा (महाभारत का फारसी अनुवाद) बुटेलियन पुस्तकालय में 1595 की जामी की बहरिसतां, ब्रिटिश संग्रहालय में दराब-नामा, विक्टोरिया और एल्बर्ट संग्रहालय, लन्दन में अकबर-नामा (लगभग 1600 ईसवी), तेहरान में गुलिस्तां पुस्तकालय में 1596 ईसवी सन् की तारीख-ए-अल्फीं, अनेक बाबर-नामा, सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में निष्पादित एक पाण्डुलिपि, खुदाबक्श- पुस्तकालय, पटना में तवारीख-ए-खानदान तैमूरिया, चेस्टनर बिट्टी पुस्तकालय, डबलिन में 1602 की योग वाशिष्ठ, आदि। इसके अतिरिक्त अकबर के युग में राजमहल, आखेट के दृश्यो और प्रतिकृतियों की अनेक चित्रकलाएं भी निष्पादित की गई थीं।

मोर मुगलशैली की चित्रकला

अकबर के राजदरबार के चित्रकारों की एक सूची में बड़ी संख्या में नाम शामिल हैं। पहले जिन दो फारसी चित्रकारों का उल्लेख किया गया है, उन्हें छोड़कर प्रसिद्ध चित्रकारों में से कुछ हैं-दसवंत मिसकिना, नन्हा, कन्हा, बासवान, मनोहर, दौलत, मंसूर, केसू, भीम गुजराती, धर्मदास, मधु, सूरदास, लाल, शंकर गोवर्धन और इनायत।

जहांगीर के अधीन चित्रकला ने अधिकाधिक आकर्षण, परिष्कार और गरिमा प्राप्त की। उन्हें प्रकृति के प्रति अधिक आकर्षण था और उन्हें पक्षियों, पशुओं तथा पुष्पों को चित्रित करने में प्रसन्नता होती थी। इनके युग में सचित्र उदाहरण देकर स्पष्ट की गई कुछ महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियां हैं- अयार-ए-दानिश नामक पशुओं के किस्से-कहानियों की एक पुस्तक, जिसके पन्नों का संग्रह कोवासजी जहांगीर संग्रह, मुम्बई और चेस्टनर बिट्टी पुस्तकालय, डबलिन में हैं

और अनवर-ऐ-सुनावली, ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन में किस्से-कहानी की एक अन्य पुस्तक है। इन दोनों को 1603-10 के बीच निष्पादित किया गया था, गुलिस्तां में कुछ लघु चित्रकलाए और हफीज का एक दीवान, ये दोनों ब्रिटिश संग्रहालय में हैं। इसके अतिरिक्त, इस काल के दौरान दरबार के दृश्यों, प्रतिकृतियों, पक्षियों, पशुओ और पुष्पों का अध्ययन भी किया गया था। जहांगीर के प्रसिद्ध चित्रकार अका रिजा, अबुल हसन, मंसूर, बिशन दास, मनोहर, गोवर्धन, बालचन्द, दौलत, मुखलिस, भीम और इनायत हैं।

जहांगीर की प्रतिकृति जहांगीर के युग के दौरान निष्पादित लघु चित्रकलाओं का एक प्रतीकात्मक उदाहरण है। यह लघु चित्रकला राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है। इसमें जहांगीर को अपने दाहिने हाथ में विर्जिन मेरी के एक चित्र को पकड़े हुए दिखाया गया है। यह प्रतिकृति अपने उत्कृष्ट आरेखण और परिष्कृत प्रतिरूपण तथा वास्तविकता के लिए असाधारण है। फूलों के डिजाइनों से सजे हुए किनारों पर सुनहरे रंग का उदारतापूर्वक प्रयोग किया गया है। किनारों पर फारसी शैली दिखाई देती है। यह प्रतिकृति 1615-20 ईसवी सन् की है। मुगल सम्राट के उदाहरण का पालन करते हुए, दरबारियो और प्रान्तीय अधिकारियों ने भी चित्रकला को संरक्षण प्रदान किया। उन्होंने चित्रकला की मुगल तकनीकों से प्रशिक्षित कलाकारों को कार्य सौंपा, लेकिन उन्हें उपलब्ध कलाकार निम्न कोटि के थे, जो राजसी कलागृह में रोजगार पाने में सक्षम नहीं थे। इन्हें केवल उच्च कोटि के कलाकारों की आवश्यकता थी। इन कलाकारों की कला-कृतियों को 'लोकप्रिय मुगल' या 'प्रान्तीय मुगल' चित्रकला की संज्ञा दी गई है। चित्रकला की इस शैली में राजसी मुगल चित्रकला की सभी विशेषताएं तो हैं, लेकिन ये हैं निम्न कोटि की हैं। लोकप्रिय मुगल चित्रकला के कुछ उदाहरण हैं-1616 ईसवी सन् की रजम-नामा की एक शृंखला, रसिकप्रिया की एक शृंखला (1610-1615) और लगभग 1610 ईसवी सन् की रामायण की एक शृंखला जो कि अनेक भारतीय और विदेशी संग्रहालयों में उपलब्ध हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामायण की एक शृंखला की प्रतीकात्मक लोकप्रिय मुगल शैली में एक उदाहरण राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है। इसमें लंका में राम और रावण के सैनिकों के बीच लड़ाई को दिखाया गया है। राम अपने भाई लक्ष्मण के साथ अग्रभाग में बाई और दिखाई दे रहे हैं, जबकि रावण अपने राजमहल में दानव प्रमुखों के साथ सुनहरे किले में विचार-विमर्श करते हुए दिखाई दे रहा है। आरेखण अच्छा है, लेकिन उतना परिष्कृत नहीं है, जैसा

राजसी मुगल चित्रकला में देखने को मिलता है। मानव मुखाकृति, दानव, वृक्ष और शैलों की अभिक्रिया सभी मुगल अन्दाज के हैं। इस लघु चित्रकला की विशेषता युद्ध के दृश्यों में सृजित कार्रवाई की भावना और नाटकीय संचलन है, शाहजहां के अधीन मुगल चित्रकला ने अपने अच्छे स्तर को बनाए रखा, तथापि उनके राज्य की अन्तिम अवधि के दौरान शैली परिपक्व हो गई थी। उनके चित्रकारों ने चित्रकला पर पर्याप्त ध्यान दिया था। उनके समय के जाने-माने कलाकार विचित्र, चौतरमन, अनूप चत्तर, समरकन्द का मोहम्म्द नादिर, इनायत और मकर हैं। चित्रकला के अतिरिक्त, तपस्वियो और रहस्यवादियों के समूहों को दर्शाने वाली अन्य चित्रकलाए और अनेक निदर्शी पाण्डुलिपियां भी इस अवधि के दौरान निष्पादित की गई थीं। इन पाण्डुलिपियों में ध्यान देने योग्य कुछ उदाहरण हैं–गुलिस्तां तथा सादी का बुस्तान, सम्राट के लिए उनके शासनकाल के प्रथम और द्वितीय वर्ष में प्रति तैयार की और विंडसर दुर्ग में शाहजहां नामा (1657)।

राष्ट्रीय संग्रहालय के संग्रह में एक लघु चित्रकला सूफियों की एक सभा को चित्रित करती हैं। सूफी खुले स्थान पर बैठे हुए है और चर्चा में व्यस्त हैं, यह शाहजहां काल की मुगल शैली के ग्रहणशील प्रकृतवाद को प्रदर्शित करती है। आरेखण परिष्कृत है और वर्ण फीके हैं, पृष्ठभूमि हरी है तथा आकाश सुनहरे रंग का है। किनारे सुनहरे रंग में पुष्पीय अभिकल्पों को दर्शाते हैं। यह लघु कला-कृति लगभग 1650 ईसवी की है।

विश्व मानचित्र पर शाहंजहाँ मुगलशैली की चित्रकला

औरंगजेब अति धर्मनिष्ठ था, इसलिए कला को प्रोत्साहित नहीं करता था। इस अवधि के दौरान चित्रकला के स्तर में गिरावट आई और इसकी पूर्ववर्ती गुणवत्ता कहीं विलुप्त हो गई। राजदरबार के असंख्य चित्रकार प्रान्तीय राजदरबारों में चले गए।

बहादुरशाह के शासनकाल में, औरंगजेब द्वारा अवहेलना के पश्चात् मुगल चित्रकला का पुनरुद्धार हुआ, जो शैलीगत सुधार को दर्शाती है।

1712 ईसवी सन् के पश्चात् मुगल बादशाहों के अधीन मुगल चित्रकला में पुनः कमी आने लगी थी, हालांकि इसका बाह्य रूप वैसा का वैसा रखा गया, फिर भी यह निर्जीव होती चली गई और पूर्ववर्ती मुगलकला की अन्तर्निहित गुणवत्ता को खो दिया।

3. दक्कनी शाखा (लगभग 1560-1800 ईसवी सन्)

जबकि दक्कन से मुगल-पूर्व चित्रकला के किसी भी विद्यमान उदाहरण की कोई जानकारी नहीं है, फिर भी निश्चित रूप से यह माना जा सकता है कि यहां चित्रकला की परिष्कृत शैली ने उन्नति की और उत्तर भारत में मुगल शैली के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सोलहवी और सत्रहवीं शताब्दियों के दौरान दक्कन में चित्रकला के प्रारम्भिक केन्द्र अहमदनगर, बीजापुर ओर गोलकुण्डा में थे। दक्कन में प्रारम्भ में चित्रकला का विकास मुगल शैली से स्वतंत्र रूप में होता रहा। बाद में सत्रहवी और अठारहवीं शताब्दियों में इस पर मुगल शैली का अधिकाधिक प्रभाव पड़ा था।

1. अहमदनगर

अहमदनगर चित्रकला के प्रारम्भिक उदाहरण अहमदनगर के हसन निजाम शाह प्रथम (1553-1565) और उनकी रानी की प्रशंसा में लिखी गई कविताओं के एक खण्ड में निहित हैं। यह पाण्डुलिपि तारीफ-इन-हुसैन शाही के नाम से जानी जाती है और इसका संबंध 1565-69 की अवधि से है तथा इसे भारत इतिहास समाशोधक मण्डल, पुना में सुरक्षित रखा गया है। एक सचित्र उदाहरण में राजा को राजसिंहासन पर बैठे हुए दिखाया गया है और अनेक महिलाएं उनका ध्यान रख रही हैं। चित्रकला में दृष्टिगोचर महिला-आकृति का संबंध मालवा की उत्तरी परम्परा से है। चोली और बंधी हुई और एक फुंदने के रूप में समाप्त होती हुई लम्बी-चोटी उत्तरी परिधान हैं, लेकिन शरीर से होता हुआ एक लम्बा रूमाल दक्षिण का एक फैशन है, चित्रकला में प्रयोग किए गए वर्ण भड़कीले तथा चटकीले है और ये उत्तरी चित्रकला में प्रयुक्त वर्णों से भिन्न हैं। उच्च क्षितिज, सुनहरे आकाश और भूदृश्यांकन में फारसी प्रभाव को देखा जा सकता है।

अहमदनगर चित्रकला के कुछ अन्य अच्छे उदाहरण हैं- लगभग 1590 ईसवीं सन् की ''हिंडोला राग'' और अहमदनगर के बुरहान निजाम शाह द्वितीय के प्रतिरूप (1591-96 ईसवीं सन्) और मलिक अम्बेर के लगभग 1605 ईसवी सन् के प्रतिरूप जो राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली और अन्य संग्रहालयों में उपलब्ध हैं।

पहाड़ी कांगड़ा शैली हिंडोला राग 1790-1800 ईसवीं सन

2. बीजापुर

बीजापुर में अली आदिल शाह प्रथम (1558–80 ईसवी सन) और उनके उत्तराधिकारी इब्राहिम द्वितीय (1580–1627) ईसवी सन् ने चित्रकला को संरक्षण प्रदान किया। चेस्टनर बिट्टी पुस्तकालय डबलिन में संरक्षित नजूम–अल–उलूम (विज्ञान के सितारे) के नाम से ज्ञात एक विश्वकोश को अली आदिल शाह प्रथम के शासनकाल 1570 ईसवी सन् में चित्रित किया गया था। इस पाण्डुलिपि में 876 लघु चित्रकलाएं हैं। इन सचित्र उदाहरणों में दिखाई देने वाली महिलाएं लम्बी और छरहरी हैं तथा उन्होंने दक्षिण भारतीय वस्त्र पहने हुए हैं। यहां प्रस्तुत सचित्र उदाहरणों की लघु चित्रकलाओं में से एक 'समृद्धि का राजसिंहासन' को दर्शाती है। महिला आकृतियों पर लेपाक्षी भित्ति चित्रकला का प्रभाव है। भड़कीले रंगों की योजना, ताड़ के वृक्ष, पशु और पुरुष तथा महिलाएं सभी का संबंध दक्कनी परम्परा से है। राजसिंहासन में सबसे ऊपर सुनहरे रंग के प्रचुर मात्रा में प्रयोग, फूलों के कुछ पौधे और अरबस्कोंष को फारसी परम्परा से लिया गया है।

इब्राहीम द्वितीय (1580–1627 ईसवी सन) एक संगीतकार थे और इसी विषय पर नवरसनामा नामक एक पुस्तक भी लिखी थी। यह विश्वास किया जाता है कि रागमाला चित्रकलाओं की अनेक चित्रकलाएं विभिन्न संग्रहालयो और निजी संग्रहों में रखी गई थीं। इब्राहीम द्वितीय के कुछ समकालिक प्रतिरूप भी अनेक संग्रहालयों में उपलब्ध हैं।

3. गोलकुण्डा

गोलकुण्डा कलाकृतियों के रूप में चिह्नित सबसे प्रारम्भिक चित्रकलाएं ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन में 1590 ईसवी सन् की पांच आकर्षक चित्रकलाओं का एक समूह हैं, जिन्हें मोहम्मद कुली कूता शाह (1580–1611) गोलकुण्डा के समय में चित्रंकित किया गया था। ये कंपनी का मनोरंजन करने वाली नृत्य करती हुई नर्तकियों को दर्शाती हैं, लघु चित्रकलाओं में से एक राजा को उसके राजदरबार में दिखाती है, जहां राजा नृत्य को देख रहे हैं। राजा ने श्वेत मुस्लिम का लबादा पहना हुआ है, जिस पर लम्बवत पट्टी पर कशीदाकारी की गई है, जो कि गोलकुण्डा के राजदरबार से सहयोजित एक प्ररूपी परिधान है। भवन, परिधान, आभूषण और पोत आदि को चित्रित करते समय सुनहरे रंग का व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है।

गोलकुण्डा चित्रकला के अन्य उत्कृष्ट उदाहरण हैं- चेस्टनर बिट्टी पुस्तकालय, डबलिन में लगभग 1605 ईसवी सन् की ''मैना पक्षी के साथ महिला'', ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन में एक सूफी कवि की एक सचित्र पाण्डुलिपि और दो प्रतिकृतियां, जिनमें एक कवि को एक उद्यान में दिखाया गया है और एक सुरुचिपूर्ण पोषाक पहने हुए एक युवक सुनहरी चौकी पर बैठा हुआ है तथा पुस्तक पढ़ रहा है। इन दोनों पर ललित कला संग्रहालय, बोस्टन में एक कलाकार मोहम्मद अली ने हस्ताक्षर किए हैं।

प्रारम्भिक दक्षिण चित्रकला ने, जैसा कि महिला की आकृतियो और परिधानों की अभिक्रिया से स्पष्ट है, मालवा में फल-फूल रही मुगल-पूर्व चित्रकला की उत्तरी परम्परा के और विजयनगर की भित्ती की दक्षिणी परम्परा के प्रभावों को आत्मसात कर लिया था। क्षितिज, सुनहरा आकाश और भूदृश्यांकन की अभिक्रिया के दौरान फारसी चित्रकला के प्रभाव को देखा गया है, ये रंग भड़कीले और चमकीले हैं तथा उत्तरी चित्रकला के रंगों से भिन्न हैं। प्रारम्भिक दक्षिणी चित्रकला की परम्परा अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के दक्कनी सल्तनतों के लुप्त होने के पश्चात् भी लम्बे समय तक जारी रही।

सेविका के साथ महिला विलावल रागिणी 18वीं शताब्दी ईसवीं सन्

4. हैदराबाद

1724 ईसवीं सन् में मीर कुमारुद्दीन खान (चिन कुलिक खान) निजाम-उल-मुल्क द्वारा असफ-जुही राजवंश की नींव रखने के साथ ही हैदराबाद में चित्रकला प्रारम्भ हुई थी। औरंगजेब के समय में दक्कन में जाकर वहीं बसने वालो और वहीं संरक्षण की मांग करने वाले उनके मुगल चित्रकार, दक्कन चित्रकला की मुगल शैली के प्रमुख केन्द्र हैदराबाद और अन्य केन्द्रों पर विभिन्न शैलियों के प्रभाव व विकास के मुख्य कारक थे। अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दियों की दक्कनी चित्रकलाओं की सुस्पष्ट विशेषताएं जातीय किस्मों, परिधानों, आभूषण, वनस्पति, जीव-जन्तु, भूदृश्यांकन और वर्णों की अभिक्रिया में देखी जाती हैं।

एक राजकुमारी को उसकी दासियों के साथ दिखाने वाली एक लघु चित्रकला, हैदराबाद चित्रकला विद्यालय का एक प्रतीकात्मक उदाहरण है। यह राजकुमारी छतरी से ढके हुए पूर्णतया सुसज्जित छज्जे पर लेटी हुई है। इस चित्रकला की शैली सजावटी है। हैदराबाद की चित्रकला की भड़कीले रंग,

दक्षिणी मुखाकृति किस्मे और परिधान जैसी प्ररूपी विशेषताओं को लघु चित्रकला में देखा जा सकता है। इसका संबंध अठारहवीं शताब्दी के तृतीय चतुर्थांश से हैं।

5. तंजावुर

अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान, चित्रकला की एक शैली की विशेषताएं सुदृढ़ आरेखण, छायाकरण की तकनीके और अभिवृद्धि तथा चटकीले वर्णों का प्रयोग करना थीं, जिसने दक्षिण भारत के तंजावुर में उन्नति की।

राष्ट्रीय संग्रहालय के संग्रह में तंजावुर चित्रकला का एक प्रतीकात्मक उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का एक सचित्र काष्ठ फलक है, जिस पर राम के राज्याभिषेक को दर्शाया गया है। इस दृश्य को व्यापक रूप से सुसज्जित मेहराबों के नीचे मूर्त रूप दिया गया है। राजसिंहासन पर मध्य में राम और सीता बैठे हुए हैं, राम के अनुज और एक महिला उनकी देखभाल कर रहे हैं। बाए और दाहिने पैनलों पर ऋषि, राजदरबारी और राजकुमार दिखाई दे रहे हैं। अग्रभाग में हनुमान, सुग्रीव हैं, जिन्हें सम्मानित किया जा रहा है तथा दो अन्य वानर एक बक्से को खोल रहे हैं, जिसमें संभवत: उपहार हैं। इसकी शैली सजावटी है और चटकीलें रंगों का प्रयोग तथा अलंकरी साजो सामान इसकी विशेषताएं हैं। लघु चित्रकला में जो शंकुरूप मुकुट दिखाई दे रहा है, वह तंजौर चित्रकला की एक प्रतीकात्मक विशेषता है।

कृष्ण तंजौर चित्रकारी 18वीं शताब्दी ईसवीं सन
गीत-गोविन्द मेवाड़ चित्रकला की राजस्थान शैली

6. मध्य भारत और राजस्थानी शैली (सत्रह से उन्नीसवीं शताब्दियां)

प्राथमिक रूप से पंथ-निरपेक्ष मुगल चित्रकला से भिन्न, मध्य भारत, राजस्थानी और पहाड़ी क्षेत्र आदि की चित्रकला की जड़ें भारतीय परम्पराओं में गहरी जमी हुई हैं तथा इसे भारतीय महाकाव्यों, पुराणों जैसे–धार्मिक ग्रंथों, संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं में प्रेम भरी कविताओं, भारतीय लोक-विद्या एवं संगीत से जुड़े विषयों के बारे में कृतियों से प्रेरणा मिली है। वैष्ण व, शैव और शक्ति के सम्प्रदायों ने इन स्थानों की चित्रकला पर अत्यधिक प्रभाव डाला हैं। इन सम्प्रदायों में से कृष्ण सम्प्रदाय सर्वाधिक लोकप्रिय था, जिसने संरक्षको

और कलाकारों को प्रेरित किया। रामायण, महाभारत, भागवत, शिव पुराण, उषा अनिरुद्ध, जयदेव का गीत गोविन्दक, भानुदत्ता की रसमंजरी, अमरू शतक, केशवदास की रसिकप्रिया, बिहारी सतसई और रागमाला, आदि के विषयों ने चित्रकार को एक अति समृद्ध क्षेत्र उपलब्ध कराया। इस कलाकार ने भारतीय चित्रकला में अपनी कलात्मक कुशलता और समर्पण से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

सोलहवीं शताब्दी में मध्य भारत और राजस्थान में पश्चिमी भारत और चौरपंचाशिका शैलियों के रूप में आदिम कला की परम्पराएं पहले से ही विद्यमान थीं, जिन्होंने सत्रहवीं शताब्दी के दौरान चित्रकला की विभिन्न शैलियों के उद्गम तथा संवृद्धि के लिए एक आधार के रूप में कार्य किया है। सोलहवीं शताब्दी के उत्तराद्धा और सत्रहवीं शताब्दी के दौरान राजस्थान में शान्तिपूर्ण स्थिति थी। राजपूत शासकों ने धीरे-धीरे मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था और उनमें से कुछ ने मुगल राजदरबार में महत्त्वपूर्ण पदों पर कब्जा कर लिया था। कुछ शासकों ने मुगलों के साथ वैवाहिक संबंध भी बना लिए थे। मुगल सम्राटों द्वारा स्थापित उदाहरण का अनुकरण करते हुए कुछ राजपूत शासकों ने कलाकारों को अपने राजदरबारों में नियोजित भी कर दिया था। कम योग्यता वाले ऐसे कुछ मुगल कलाकार जिनकी अब मुगल सम्राटों को कोई आवश्यकता नहीं थी, राजस्थान और अन्य स्थानों पर चले गए थे तथा उन्हें स्थानीय राजदरबारों में रोजगार मिल गया था। यह माना जाता है कि मुगल शैली के लोकप्रिय रूपान्तर, जिसे ये चित्रकार विभिन्न स्थानों पर ले गए थे, ने वहां चित्रकला की पहले से विद्यमान शैलियों को प्रभावित किया, जिसके परिणामस्वरूप सत्रहवी और अठारहवीं शताब्दियों में राजस्थान तथा मध्य भारत में चित्रकला की अनेक नई शैलियों का उद्भव हुआ था। इनमें से चित्रकला के महत्त्वपूर्ण विद्यालय मालवा, मेवाड़, बूंदी-कोटा, आमेर जयपुर, बीकानेर, मारवाड़ और किशनगढ़ में थे।

मालवा सहित चित्रकला की राजस्थानी शैली की विशेषताएं मजबूत एवं प्रभावशाली आरेखण और विषम वर्ण हैं। परिप्रेक्ष्य को एक प्राकृतिक दृष्टि से दिखाने के लिए कोई प्रयास किए बिना ही आकृतियों की अभिक्रिया चौरस है। कभी-कभी चित्रकला की सतह को अलग-अलग वर्णों के अनेक उप-खण्डों में विभाजित कर दिया जाता है, ताकि एक दृश्य को अन्य दृश्य से पृथक किया जा सके। आरेखण के परिष्कोरण में मुगल प्रभाव दिखाई देता है और आकृतियों

तथा वृक्षों में प्रकृतिवाद के कुछ तत्व्त्वों को डाला गया है। चित्रकला के प्रत्येक विद्यालय की अपनी विशिष्ट किस्म, परिधान, भूदृश्यांकन और वर्ण योजना होती है।

भित्ति चित्र मेवाड़ चित्रकला की राजस्थान शैली

रावण सीता से भिक्षा मांगते हुए मालवा चित्रकला की राजस्थान शैली

1. मालवा

मालवा शैली में निष्पादित की गई कुछ महत्त्वपूर्ण चित्रकलाएं हैं- 1634 ईसवी सन् की रसिकप्रिया की एक शृंखला, 1652 ईसवी सन् में नसरतगढ़ नायक एक स्थान पर चित्रित की गई, अमरू शतक की एक शृंखला और 1680 ईसवी सन् में माधो दास नामक एक कलाकार द्वारा नरसिंह शाह में चित्रित की गई रागमाला की एक शृंखला। इनमें से कुछ राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में उपलब्ध हैं। इसी समय की एक अन्य अमरू-शतक प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, मुम्बई मे और 1650 ईसवी सन् की एक रागमाला शृंखला भारत कला भवन, बनारस में उपलब्ध है। मालवा में चित्रकला सत्रहवीं शताब्दी ईसवी सन् के अन्त तक जारी रही।

1680 ईसवी सन् की रागमाला की एक शृंखला का उदाहरण मेघ राग का निरूपण करता है। इस लघु चित्रकला में नीले वर्ण वाले राग को तीन महिला संगीतकारों द्वारा बजाए जा रहे संगीत की थाप पर एक महिला को नृत्य करते हुए दिखाया गया है। इस दृश्य की पृष्ठभूमि श्याम है, आकाश काले बादलों से घिरा हुआ है और बिजली चमक रही है तथा वर्षा को श्वेत बिन्दु रेखाओं द्वारा दिखाया गया है। बादलों की श्याम पृष्ठभूमि में चार हंस पंक्तिबद्ध होकर उड़ रहे हैं, जिससे लघु चित्रकला के चित्रीय प्रभाव में वृद्धि होती है। आलेख सबसे ऊपर नागरी में लिखा गया है। इस चित्रकला की प्रतीकात्मक विशेषताएं हैं- विषम वर्णों का प्रयोग, मुगल चित्रकला के प्रभाव के कारण आरेखण का परिष्करण और काले फुंदनों तथा धारीदार लहंगों सहित आभूषण एवं परिधान।

2. मेवाड़

मेवाड़ चित्रकला का प्रारम्भिक उदाहरण 1605 ईसवीं सन् में मिसर्दी द्वारा उदयपुर के निकट एक छोटे से स्थान चावंद में चित्रित की गई रागमाला की

एक शृंखला है। इस शृंखला की अधिकांश चित्रकलाएं श्री गोपी कृष्ण कनोडिया के संग्रह में हैं। रंगमाला की एक अन्य शृंखला को साहिलदीन ने 1628 ईसवीं सन् में चित्रित किया था। इस शृंखला की कुछ चित्रकलाएं जो पहले खंजाची संग्रह के पास थी जो अब राष्टीय संग्रहालय, नई दिल्ली में हैं। मेवाड़ चित्रकला के अन्य उदाहरण हैं- 1651 ईसवी सन् की रामायण की तृतीय पुस्तक (अरण्य काण्ड) का सचित्र उदाहरण जो सरस्वती भण्डार, उदयपुर में हैं, 1653 ईसवी सन् की रामायण की सातवीं पुस्तक (उत्तर काण्ड), जो ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन में है और लगभग इसी समय की रागमाला चित्रकला की एक शृंखला राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है। 1628 ईसवी सन् में साहिबदीन द्वारा चित्रित की गई रागमाला शृंखला का एक उदाहरण अब राष्ट्रीय संग्रहालय में है, जो ललित रागिनी को दर्शाने वाली एक चित्रकला है। नायिका एक ऐसे मण्डप के नीचे एक बिस्तर पर लेटी हुई है तथा उसकी आंखें बन्द हैं, जिसमें एक द्वार भी है। एक दासी उसके चरण दबा रही है। नायक बाहर खड़ा है, उसके हाथ में एक पुष्पमाला है। अग्रभाग में एक सज्जित अश्व है और दूल्हा मण्डप की सीढ़ियों के निकट बैठा हुआ है। आरेखण मोटा है और वर्ण चमकीले तथा विषम हैं। चित्रकला का आलेख पीत भूमि पर सबसे ऊपर श्याम रंग से लिखा गया है।

मेवाड़ चित्रकला की राजस्थान शैली

3. बूँदी

चित्रकला की बूँदी शैली मेवाड़ के अति निकट है, लेकिन बूँदी शैली गुणवत्ता में मेवाड़ शैली से आगे है। बूँदी में चित्रकला लगभग 1625 ईसवीं सन् में प्रारम्भ हो गई थी। भैरवी रागिनी को दर्शाते हुए एक चित्रकला इलाहाबाद संग्रहालय में हैं, जो बूँदी चित्रकला का एक प्रारंभिक उदाहरण है। इसके कुछ उदाहरण हैं- कोटा संग्रहालय में भागवत पुराण की एक सचित्र पाण्डुलिपि और राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में रसिकप्रिया की एक शृंखला।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में रसिकप्रिया की एक शृंखला में एक दृश्य है, जिसमें कृष्ण एक गोपी से मक्खन लेने का प्रयास कर रहा है, लेकिन जब उसे यह पता चलता है कि पात्र में एक वस्त्र का टुकड़ा और कुछ अन्य वस्तुएं हैं, लेकिन मक्खन नहीं है तो वह यह समझ जाता है कि गोपी ने उससे छल

किया है। पृष्ठभूमि में वृक्ष और अग्रभाग में एक नदी है, जिसे तरंगी रेखाओं द्वारा चित्रित किया गया है, नदी में फूल और जलीय पक्षी दिखाई दे रहे हैं। इस चित्रकला का चमकीले लाल रंग का एक किनारा है, जैसा कि इस लघु चित्रकला से स्पष्ट होता है बूँदी चित्रकला के विशेष गुण भड़कीले तथा चमकीले वर्ण, सुनहरे रंग में उगता हुआ सूरज, किरमिजी-लाल रंग का क्षितिज, घने और अद्धा-प्रकृतिवादी वृक्ष हैं। चेहरों के परिष्कृत आरेखण में मुगल प्रमाण और वृक्षों की अभिक्रिया में प्रकृतिवाद का एक तत्त्व दृष्टिगोचर है। आलेख पीत भूमि पर सबसे ऊपर श्याम रंग से लिखा गया है।

4. कोटा

बूँदी शैली से काफी कुछ सदृश्य चित्रकला की एक शैली अठारहवीं शताब्दी के अन्त मे और उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान बूँदी के निकट एक स्थान कोटा में भी प्रचलित थी। बाघ और भालू के आखेट के विषय कोटा में अति लोकप्रिय थे। कोटा की चित्रकलाओं में अधिकांश स्थान पर्वतीय जंगल ने ले लिया है, जिसे असाधारण आकर्षण के साथ प्रस्तुत किया गया है।

रागिन वसन्त कोटा चित्रकला, चित्रकला की राजस्थान शैली
जयपुर चित्रकारी चित्रकला की राजस्थान शैली

5. आमेर-जयपुर

आमेर राज्य के मुगल सम्राटों से घनिष्ठतम संबंध थे। सामान्यत: यह माना जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आमेर राज्य की पुरानी राजधानी आमेर में चित्रकला के एक विद्यालय की स्थापना हुई। बाद में अठारहवीं शताब्दी में कलात्मक क्रियाकलाप का केन्द्र नई राजधानी जयपुर चला गया था। जयपुर के शासकों की काफी बड़ी संख्या में प्रतिकृतिया और अन्य विषयों पर लघु चित्रकलाएं हैं, जिनका श्रेय निश्चित रूप से जयपुर शैली को जाता है।

मारवाड़ चित्रकला, चित्रकला की राजस्थान शैली

6. मारवाड़

मारवाड़ में चित्रकला के प्रारम्भिक उदाहरणों में से एक 1623 ईसवी सन् में वीरजी नाम के एक कलाकार द्वारा मारवाड़ में पाली में चित्रित की गई

रागमाला की एक शृंखला है, जो कुमार संग्राम सिंह के संग्रह में है। लघु चित्रकलाओं को एक आदिम तथा ओजस्वी लोक शैली में निष्पादित किया जाता है तथा ये मुगल शैली से कदापि प्रभावित नहीं हैं।

प्रतिकृतियों, राजदरबार के दृश्यों, रंगमाला की शृंखला और बड़ामास, आदि को शामिल करते हुए बड़ी संख्या में लघु चित्रकलाओं को सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दीं तक मारवाड़ में पाली, जोधपुर और नागौर आदि जैसे–चित्रकला के अनेक केन्द्रों पर निष्पादित किया गया था।

7. बीकानेर

बीकानेर उन राज्यों में से एक था जिनके मुगलों के साथ घनिष्ठ संबंध थे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तराद्धा में कुछ मुगल कलाकारों को बीकानेर के राजदरबार ने संरक्षण प्रदान किया था और ये चित्रकला की एक ऐसी नई शैली को प्रारम्भ करने के प्रति उत्तरदायी थे जिसकी मुगल और दक्कनी शैलियों से काफी समानता थी। लगभग 1650 ईसवी सन् में बीकानेर के राजा कर्ण सिंह ने एक महत्त्वपूर्ण कलाकार अली रजा 'दिल्ली के उस्ताद' को नियोजित किया था। बीकानेर के राजदरबार में कार्य करने वाले कुछ अन्य असाधारण कलाकार रुकनुद्दीन और उनका सुपुत्र शाहदीन थे।

कृष्ण और राधा बीकानेर चित्रकला की राजस्थान शैली 18वीं शताब्दी इसवीं सन

राधा और कृष्ण किशनगंज चित्रकला की राजस्थान शैली

8. किशनगढ़

अठारहवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश के दौरान, राजा सावंत सिंह (1748–1757 ईसवी सन) के संरक्षणाधीन किशनगढ़ में राजस्थान की एक सर्वाधिक आकर्षक शैली का विकास हुआ था। राजा सावंत सिंह ने नागरी दास के कल्पित नाम से कृष्ण की प्रशंसा में भक्तिपूर्ण काव्य लिखा था। दुर्भाग्यवश, किशनगढ़ की लघु–चित्रकलाएं बहुत कम मात्रा में उपलब्ध हैं। ऐसा माना जाता है कि इनमें से अधिकांश की रचना उस्ताद चित्रकार निहाल चन्द ने की थी जो अपनी कला–कृतियों में अपने उस्ताद की गीतात्मक रचनाओं की दृश्य प्रतिभाओं का सृजन करने में सक्षम रहे हैं। कलाकार ने छरहरे शरीरो और सुंदर

नेत्रों के साथ मानव आकृतियों को नजाकत से चित्रित किया है। राष्ट्रीय संग्रहालय के संग्रह में किशनगढ़ विद्यालय की एक सुन्दर लघु चित्रकला को यहां सचित्र प्रस्तुत किया गया है। यह संध्या में कृष्ण के अपने गोपिकाओ और गायों के साथ गोकुल लौटने के सुन्दर ग्रामीण दृश्य को चित्रित करती है। इस चित्रकला की विशेषता में उत्कृष्ट आरेखण, मानव आकृतियो और गायों का सुन्दर प्रतिरूपण और एक झरने, सघन वृक्षों की कतारो और वास्तुकला को दर्शाते हुए भूदृश्यांकन का एक विशाल परिदृश्य शामिल हैं। कलाकार ने कई आकृतियों को लघु चित्रकला में उत्कृष्ट कुशलता का प्रदर्शन किया है। इस चित्रकला का आन्तरिक किनारा सुनहरा है। इसे अठारहवीं शताब्दी के मध्य का माना जाता है तथा यह किशनगढ़ के प्रसिद्ध कलाकार निहाल चन्द की एक कलाकृति हो सकती है।

5 पहाड़ी शैली (सत्रह से उन्नीसवीं शताब्दी)

पहाड़ी क्षेत्र में वर्तमान हिमाचल प्रदेश राज्य, पंजाब के कुछ निकटवर्ती क्षेत्र, जम्मू और कश्मीर राज्य में जम्मू क्षेत्र और उत्तर प्रदेश में गढ़वाल शामिल हैं। इस समूचे क्षेत्र को छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित किया गया था तथा राजपूत राजकुमारों का इन पर शासन था, जो प्रायः कल्याणकारी कार्यों में व्यस्त रहते थे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तराद्धा से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक ये राज्य महान कलात्मक क्रियाकलापों के केन्द्र थे।

1. बशोली

पहाड़ी क्षेत्र में चित्रकला का प्रारम्भिक केन्द्र बशोली था जहां राजा कृपाल पाल के संरक्षणाधीन एक कलाकार जिसे देवीदास नाम दिया गया था, 1694 ईसवी सन् में रसमंजरी चित्रों के रूप में लघु चित्रकला का निष्पादन किया था। रसमंजरी लघु चित्रकलाओं की एक अन्य शृंखला है, जिसे समान शैली मे और लगभग समान अवधि में तैयार किया गया था, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा किसी अन्य व्यक्ति ने किया था। रसमंजरी की दो शृंखलाओं के सचित्र उदाहरण भारत और विदेशों के अनेक संग्रहालयों में बिखरे पड़े हैं। चित्रकला की बशोली शैली की विशेषता प्रभावशाली तथा सुस्पष्ट रेखा और प्रभावशाली चमकीले वर्ण हैं। बशोली शैली विभिन्न पड़ोसी राज्यों तक फैली और अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक जारी रही।

1730 ईसवी सन् में कलाकार मनकू द्वारा चित्रित की गई गीतगोविन्द की एक शृंखला का एक सचित्र उदाहरण बशोली शैली के आगे विकास को दर्शाता है। यह चित्रकला राष्ट्रीय संग्रहालय के संग्रह में उपलब्ध है और एक नदी के किनारे पर एक उपवन में कृष्ण को गोपियों के साथ चित्रित करती है।

मुखाकृति शैली में एक परिवर्तन आया है, जो कुछ भारी हो गया है। साथ ही वृक्षों के रूपों में भी परिवर्तन आया है, जिसमें कुछ-कुछ प्राकृतिक विशेषता को अपना लिया है। ऐसा मुगल चित्रकला के प्रभाव के कारण हो सकता है। बशोली शैली के प्रभावशाली तथा विषम वर्णों के प्रयोग, एकवर्णीय पृष्ठभूमि, बड़ी-बड़ी आंखें, मोटा व ठोस आरेखण, आभूषणों में हीरों को दिखाने के लिए बाहर निकले हुए पंखों के प्रयोग, तंग आकाश और लाल किनारा जैसी सामान्य विशेषताएं इस लघु चित्रकला में भी देखी जा सकती हैं।

रथ पर देवी की सवारी बैसोली चित्रकला की पहाड़ी शैली

गुलेर के राजा बिशन सिंह का चित्र, चित्रकला की पहाड़ी शैली

2. गुलेर

बशोली शैली के अन्तिम चरण के पश्चात चित्रकलाओं के जम्मू समूह का उद्भव हुआ, जिसमें मूल रूप से गुलेर से संबंध रखने वाले और जसरोटा में बस जाने वाले एक कलाकार नैनसुख द्वारा जसरोटा (जम्मू के निकट एक छोटा स्थान) के राजा बलवन्त सिंह की प्रतिकृतियां शामिल हैं। उसने जसरोटा और गुलेर दोनों स्थानों पर कार्य किया। ये चित्रकलाएं नई प्राकृतिक तथा कोमल शैली में हैं, जो बोसोहली कला की प्रारम्भिक परम्पगराओं में एक परिवर्तन का द्योतक है। प्रयुक्त वर्ण कोमल तथा शीतल हैं। ऐसा प्रतीत होता कि यह शैली मोहम्मद शाह के समय की मुगल चित्रकला की प्राकृतिक शैली से प्रभावित हुई है।

पहाड़ी क्षेत्र के एक अन्य राज्य में गुलेर में लगभग 1750 ईसवीं सन् में जसरोट के बलवन्त सिंह की प्रतिकृति से घनिष्ठ संबंध रखने वाली एक शैली में गुलेर के राजा गोवर्धन चन्द की अनेक प्रतिकृतियों का निष्पादन किया गया था। इन्हें कोमलता से बनाया गया है और ये चमकीली तथा भड़कीली रंगपट्टी से युक्त है।

पहाड़ी क्षेत्र में सृजित लघु चित्रकलाओं का सर्वोत्तम समूह भागवत की सुप्रसिद्ध शृंखला, गीत गोविन्द, बिहारी सतसई, बारहमासा और 1760-70 ईसवी सन् में चित्रित की गई रंगमाला का प्रतिनिधित्व करती है। चित्रकला की इन

शृंखलाओं के उद्‌गम का ठीक-ठीक स्थान ज्ञात नहीं है। इन्हें या तो गुलेर या कांगड़ा में या फिर किसी अन्य निकटवर्ती स्थान पर चित्रित किया गया होगा। भागवत और अन्य शृंखलाओं सहित गुलेर प्रतिकृतियों को गुलेर प्रतिकृतियों की शैली के आधार पर गुलेर शैली नाम के एक सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत समूहबद्ध किया गया है। इन चित्रकलाओं की शैली प्रकृतिवादी, सुकोमल और गीतात्मक है। इन चित्रकलाओं में महिला आकृति विशेष रूप से सुकोमल है, जिसमें सुप्रतिरूपित चेहरे, छोटी और उल्टी नाक है और बालों को सूक्ष्मरूप से बांधा गया है। इस बात की पूरी-पूरी संभावना है कि इन चित्रकलाओं को उस्ताद-कलाकार नैनसुख ने स्वयं या फिर उसके कुशल सहयोगी ने निष्पादित किया होगा।

3. कांगड़ा

गुलेर शैली के पश्चात् 'कांगड़ा शैली' नामक एक चित्रकला की एक अन्य शैली का उद्‌गम अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ जो पहाड़ी चित्रकला के तृतीय चरण का प्रतिनिधित्व करती है। कांगड़ा शैली का विकास गुलेर शैली से हुआ। इसमें गुलेर शैली की आरेखण में कोमलता और प्रकृतिवाद की गुणवत्ता जैसी प्रमुख विशेषताएं निहित हैं। चित्रकला के इस समूह को कांगड़ा शैली का नाम इसलिए दिया गया, क्योंकि ये कांगड़ा के राजा संसार चन्द की प्रतिकृति की शैली के समान है। इन चित्रकलाओं में, पार्श्विका में महिलाओं के चेहरों पर नाक लगभग माथे की सीध में हैं, नेत्र लम्बे तथा तिरछे है और ठुड्डी नुकीली है, तथापि, आकृतियों का कोई प्रतिरूपण नहीं है और बालों को एक सपाट समूह माना गया है, कांगड़ा शैली कांगड़ा, गुलेर, बशोली, चम्बा, जम्मू, नूरपुर, गढ़वाल, आदि विभिन्न स्थानों पर उन्नति करती रही। कांगड़ा शैली की चित्रकलाओं का श्रेय मुख्य रूप से नैनसुख परिवार को जाता है। कुछ पहाड़ी चित्रकारों को पंजाब में महाराजा रणजीत सिंह और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सिख अभिजात वर्ग का संरक्षण मिला था तथा कांगड़ा शैली के आशोधित रूप में प्रतिकृतियो और एवं अन्य लघु चित्रकलाओं का निष्पादन किया था, जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक जारी रहा।

कांगड़ा चित्रकला की पहाड़ी शैली

स्त्री और सारस कुल्लू-मंडी चित्रकला की राजस्थान शैली।

4. कुल्लू-मण्डीय

पहाड़ी क्षेत्र में प्रकृतिवादी कांगड़ा शैली के साथ-साथ, कुल्लू-मण्डी क्षेत्र में चित्रकला की एक लोक शैली ने भी उन्नति की तथा इसे मुख्य रूप से स्थानीय परम्परा से प्रेरणा मिली। इस शैली की विशेषता मजबूत एवं प्रभावशाली आरेखण और गाढ़े तथा हल्के रंगों का प्रयोग करना हैं, हालांकि कुछ मामलों में कांगड़ा शैली के प्रभाव को देखा जाता है, फिर भी इस शैली ने अपनी विशिष्ट शास्त्रीय विशेषता को बनाए रखा है। कुल्लू और मण्डी के शासकों की बड़ी संख्यन में प्रतिकृतिया और अन्य विषयों पर लघु चित्रकलाएं इस शैली में उपलब्ध हैं।

राष्ट्रीय संग्रहालय के संग्रह में भागवत की शृंखला से एक लघु चित्रकला को 1794 ईसवीं सन् में श्री भगवान ने चित्रित किया था। इन सचित्र उदाहरणों में कृष्ण को अपनी छोटी अंगुली पर गोवर्धन पर्वत को उठाए हुए दिखाया गया है, ताकि गोकुल वासियों को इन्द्र के क्रोध से बचाया जा सके, क्योंकि वे मूसलाधार वर्षा कर रहे हैं। काले बादलो और सफेद बिन्दुं रेखाओं के रूप में वर्षा को पृष्ठभूमि में दिखाया गया है, आकृतियों का आरेखण ठोस रूप में है। चित्रकला में किनारे पीले पुष्पों के द्वारा चित्रित है।

कुल्लू चित्रकला का एक अन्य उदारहण भी है, जिसमें दो युवतियां पतंग उड़ा रही हैं। यह लघु चित्रकला अठारहवीं शताब्दी की लोक शैली में है और ठोस व मजबूत आरेखण तथा हल्की वर्ण योजना इसकी विशेषताएं हैं। पृष्ठभूमि हल्की नीले रंग की है। युवतियों ने प्ररूपी परिधान और आभूषण पहने हुए हैं, जो उस अवधि में कुल्लू क्षेत्र में प्रचलित थे, दो उड़ते हुए तोते आकाश को प्रतीकात्मक रूप में दर्शाते हैं। इस लघु चित्रकला का संबंध राष्ट्रीय संग्रहालय के संग्रह से है।

ओड़िशा

ओड़िशा में लघु चित्रकला के प्रारम्भिक जीवित उदाहरणों का सत्रहवीं शताब्दी ईसवी सन् से संबंध प्रतीत होता है। इस समय की चित्रकलाओं के कुछ अच्छे उदाहरण हैं- आशुतोष संग्रहालय में एक राजदरबार का दृश्य और गीत गोविन्द की पाण्डुलिपि के सचित्र उदाहरण के चार पत्रक और राष्ट्रीय संग्रहालय में रामायण की ताड़-पत्ते पर एक सचित्र पाण्डुलिपि और राष्ट्रीय संग्रहालय में गीत गोविन्द की कागज पर एक पाण्डुलिपि, ओड़िशी चित्रकला के अठारहवीं

शताब्दी के उदाहरण हैं। ओड़िशा में ताड़ के पत्ते का प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी तक होता रहा था। बहिर्रेखा के आरेखण को ताड़ के पत्ते पर एक सुई से चित्रित किया गया और फिर चित्र पर काठ कोयला या स्याही को रगड़ कर चित्र को उभारा गया। अभिकल्पों को भरने के लिए कुछ रंगों का प्रयोग किया गया था तथापि कागज पर चित्रकला करने की यह तकनीक भिन्न थी पर चित्रकला के अन्य विद्यालयों द्वारा प्रयुक्त तकनीक के समान थी। प्रारम्भिक पाण्डुलिपियां आरेखण में स्वच्छता को दर्शाती हैं। बाद में अठारहवीं शताब्दी में यह रेखा मोटी और कच्ची हो जाती है, लेकिन शैली सामान्य रूप से अति सजावटी तथा अलंकारी हो जाती है।

राष्ट्रीय संग्रहालय के संग्रह में लगभग 1800 ईसवी सन् की गीत गोविन्द की एक शृंखला में एक सचित्र उदाहरण राधा और कृष्ण को चित्रित करता है। वे एक लाल पृष्ठभूमि में एक कमजोर वृक्ष की इकहरी शाखाओं के नीचे आमने-सामने खड़े हैं। शैली अति अलंकृत है और सुदृढ़ आरेखण, वृक्ष का रूढ़ अंकन, आकृतियों का भारी अलंकरण और खूबसूरत चमकीली रंग योजनाओं का प्रयोग करना इसकी विशेषताएं हैं। संस्कृत लेख सबसे ऊपर है।

गीत-गोविन्द ताड़-पत्र चित्रकारी ओडिशा

तकनीक

चित्रकलाओं का निष्पादन परम्परागत चित्रकला तकनीक से किया गया था। रंगों को सटीक माध्यम के साथ जल में मिश्रित करने के पश्चात् इन्हें रेखाचित्र पर लगाया जाता था। पहले खाके को लाल या काले रंग से स्वतंत्र रूप से तैयार किया जाता था और उसके ऊपर सफेद रंग लगाया जाता था। सतह को तब तक भली-भांति चमकाया जाता था, जब तक कि इसमें से बहिर्रेखा स्पष्ट रूप से दिखाई न देने लगे। फिर एक बढ़िया कूंची की सहायता से एक दूसरी बहिर्रेखा खींची जाती थी। पहले पृष्ठ भूमि पर रंग किया जाता था और तत्पश्चात् आकाश, भवन और वृक्ष आदि की आकृतियों को सबसे अन्त में रंगा जाता था और इसके बाद एक अन्तिम बहिर्रेखा खींची जाती थी। जब काठकोयले के चूरे को रगड़ कर छिद्रित खाकों की प्रतियां तैयार की जाती थी, तब तक प्रथम आरेखण का स्थान बिन्दु- बहिर्रेखा ले लेती थी। चित्रकलाओं में प्रयुक्त रंग खनिजो और गेरुओं से लिए गए थे। नीला वनस्पति रंग था। लाक्षा-रंजन और

लाल कृमिज कीड़ों से लिए गए थे। दग्ध शंख और सफेदा श्वेत वर्ण के रूप में प्रयोग में लिए गए हैं। काजल काले रंग के रूप में प्रयोग किए गए थे। गेरू, सिंदूर लाक्षा-रंजन और लाल कृमिज लाल रंग के रूप में प्रयोग किए गए थे। नील और लाजवर्द नीले के लिए प्रयोग किए गए थे। पीला गेरू, हरताल और पेओरि (आम के पत्ते खाने वाली गायों के मूत्र से निकाला गया) पीले रंग के लिए प्रयोग किए गए थे। चांदी और सोने का प्रयोग भी किया गया था। टेरावर्टे, मैलकाइट (जंगल) का प्रयोग हरे रंग के रूप में किया गया था, जो अन्य वर्णों को मिश्रित करके भी प्राप्त किया जाता था। रंगों में बबूल गोंद ओर नीम गोंद का प्रयोग बंधनकारी माध्यम के रूप में किया जाता था। पशु के बाल से कूंची बनाई जाती थी। बढ़िया कूंची गिलहरी के बाल से बनाई जाती थी। एक बाल की कूची सबसे अच्छा होता था। ताड़ के पत्ते और कागज के अतिरिक्त, काष्ठ और वस्त्र का प्रयोग भी चित्रकला के लिए सामग्री के रूप में किया जाता था।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वाद्धा के पश्चात परम्परागत भारतीय चित्रकला में गिरावट आनी प्रारम्भ हो गई थी और इस शताब्दी के अन्त तक इसने अपनी अधिकांश सजीवता तथा आकर्षण को खो दिया था तथापि पहाड़ी क्षेत्र में चित्रकला ने अपनी गुणवत्ता को उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थांश तक बनाए रखा था। चित्रकला के पश्चिमी वर्णों और तकनीक के प्रभाव के कारण भारतीय चित्रकला की परम्परागत शैलियां उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तराद्धा में अन्ततः समाप्त हो गई थीं।

3

भारतीय अलंकृत कला

भारतीय लोगों की कलात्मक अभिव्यक्ति केवल कागज या पट्ट पर चित्र बनाने तक ही सीमित नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में घर की दीवारों पर अलंकृत कला एक आम दृश्य है। पवित्र अवसरो और पूजा आदि में फर्श पर रंगोली या अलंकृत चित्रकला के डिजाइन 'रंगोली' आदि के रूप में बनाए जाते हैं, जिनके कलात्मक डिजाइन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानान्तरित होते चले जाते हैं। ये डिजाइन उत्तर में रंगोली, बंगाल में अल्पना, उत्तरांचल में ऐपन, कर्नाटक में रंगावली, तमिलनाडु में कोल्लम और मध्य प्रदेश में मांडना नाम से जाने जाते हैं। साधारणतया रंगोली बनाने में चावल के आटे का प्रयोग किया जाता है, लेकिन रंगीन पाउडर या फूल की पंखुड़ियों का प्रयोग भी रंगोली को ज्यादा रंगीन बनाने के लिए किया जाता है। घरों तथा झोपड़ियों की दीवारों को सजाना भी एक पुरानी परंपरा है। इस प्रकार की लोक कला के विभिन्न उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं।

मिथिला चित्रकला

मिथिला चित्रकला बिहार प्रदेश के मिथिला क्षेत्र की पारम्परिक कला है। इसे 'मधुबनी लोककला' भी कहते हैं। इस चित्रकारी को गावं की महिलाएं सब्जी के रंगों से तथा त्रि-आयामी मूर्तियों के रूप में मिट्टी के रंगों से गोबर से पुते कागजों पर बनाती है और काले रंगों से बनाना समाप्त करती हैं। ये चित्र

प्राय: सीता बनवास, राम-लक्ष्मण के वन्य जीवन की कहानियों अथवा लक्ष्मी, गणेश, हनुमान की मूर्त्तियों आदि हिन्दु मिथकों पर बनाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त स्त्रियाँ दैवी विभूतियाँ जैसे-सूर्य, चन्द्र आदि के भी चित्र बनाती हैं। इन चित्रों में दिव्य पौधे 'तुलसी' को भी चित्रित किया जाता है। ये चित्र अदालत के दृश्य, विवाह तथा अन्य सामाजिक घटनाओं को प्रदर्शित करते हैं।

मधुबनी शैली के चित्र बहुत वैचारिक होते हैं। पहले चित्रकार सोचता है और फिर अपने विचारों को चित्रकला के माध्यम से प्रस्तुत करता है। चित्रों में कोई बनावटीपन नहीं होता। देखने में यह चित्र ऐसे बिम्ब होते हैं, जो रेखाओ और रंगों में मुखर होते हैं। प्राय: ये चित्र कुछ अनुष्ठानों अथवा त्योहारों के अवसर पर अथवा जीवन की विशेष घटनाओं के समय गांव या घरों की दीवारों पर बनाए जाते हैं। रेखागणितीय आकृतियों के बीच में स्थान को भरने के लिए जटिल फूल पत्ते, पशु-पक्षी, बनाए जाते हैं। कुछ मामलों में ये चित्र माताओं द्वारा अपनी बेटियों के विवाह के अवसर पर देने के लिए पहले से ही तैयार करके रख दिए जाते हैं। ये चित्र एक सुखी विवाहित जीवन जीने के तरीकों को भी प्रस्तुत करते हैं। विषय और रंगों के उपयोग में भी ये चित्र विभिन्न होते हैं। चित्रों में प्रयुक्त रंगों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह चित्र किस समुदाय से संबंधित हैं। उच्च स्तरीय वर्ग द्वारा बनाए गए चित्र अधिक रंग-बिरंगे होते हैं, जबकि निम्न वर्ग द्वारा चित्रों में लाल और काली रेखाओं का प्रयोग किया जाता है। मधुबनी कला शैली बड़ी मेहनत से गांव की महिलाओं द्वारा आगे अपने बेटियों तक स्थानान्तरित की जाती हैं। आजकल मधुबनी कला का उपयोग उपहार की सजावटी वस्तुओं, बधाई पत्रों आदि के बनाने में किया जा रहा है और स्थानीय ग्रामीण महिलाओं के लिए एक अच्छी आय का स्रोत भी सिद्ध हो रहा है।

मधुबनी चित्रकला अथवा मिथिला पेंटिंग मिथिला क्षेत्र जैसे-बिहार के दरभंगा, पूर्णिया, सहरसा, मुजफ्फरपुर, मधुबनी एवं नेपाल के कुछ क्षेत्रों की प्रमुख चित्रकला है। प्रारम्भ में रंगोली के रूप में रहने के बाद यह कला धीरे-धीरे आधुनिक रूप में कपड़ो, दीवारों एवं कागज पर उतर आई है। मिथिला की औरतों द्वारा शुरू की गई इस घरेलू चित्रकला को पुरुषों ने भी अपना लिया है। वर्तमान में मिथिला पेंटिंग के कलाकारों ने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मधुबनी व मिथिला पेंटिंग के सम्मान को और बढ़ाये जाने को लेकर तकरीबन 10,000 sqèft में मधुबनी रेलवे स्टेशन के दीवारों को मिथिला पेंटिंग की कलाकृतियों से सरोबार किया। उनकी ये पहल नि:शुल्क अर्थात श्रमदान के रूप में किया

गया। श्रमदान स्वरूप किये गए इस अदभुत कलाकृतियों को विदेशी पर्यटकों व सैनानियों द्वारा खूब पसंद किया जा रहा है।

इतिहास

माना जाता है ये चित्र राजा जनक ने राम-सीता के विवाह के दौरान महिला कलाकारों से बनवाए थे। मिथिला क्षेत्र के कई गांवों की महिलाएँ इस कला में दक्ष हैं। अपने असली रूप में तो ये पेंटिंग गांवों की मिट्टी से लीपी गई झोपड़ियों में देखने को मिलती थी, लेकिन इसे अब कपड़े या फिर पेपर के कैनवास पर खूब बनाया जाता है। समय के साथ-साथ चित्रकार कि इस विधा में पासवान जाति के समुदाय के लोगों द्वारा राजा शैलेश के जीवन वृतान्त का चित्रण भी किया जाने लगा। इस समुदाय के लोग राजा सैलेश को अपने देवता के रूप में पूजते भी हैं।

विशेषता

इस चित्र में खासतौर पर कुल देवता का भी चित्रण होता है। हिन्दू देव-देवताओं की तस्वीर, प्राकृतिक नजारे जैसे- सूर्य व चंद्रमा, धार्मिक पेड़-पौधे जैसे- तुलसी और विवाह के दृश्य देखने को मिलेंगे। मधुबनी पेंटिंग दो तरह की होतीं हैं- भित्ति चित्र और अरिपन या अल्पना।

विधियाँ

चटख रंगों का इस्तेमाल खूब किया जाता है, जैसे–गहरा लाल रंग, हरा, नीला और काला। कुछ हल्के रंगों से भी चित्र में निखार लाया जाता है, जैसे- पीला, गुलाबी और नींबू रंग। यह जानकर हैरानी होगी की इन रंगों को घरेलू चीजों से ही बनाया जाता है, जैसे- हल्दी, केले के पत्ते, लाल रंग के लिऐ पीपल की छाल प्रयोग किया जाता है और दूध। भित्ति चित्रों के अलावा अल्पना का भी बिहार में काफी चलन है। इसे बैठक या फिर दरवाजे के बाहर बनाया जाता है। पहले इसे इसलिए बनाया जाता था, ताकि खेतों में फसल की पैदावार अच्छी हो लेकिन आजकल इसे घर के शुभ कामों में बनाया जाता है। चित्र बनाने के लिए माचिस की तीली व बाँस की कलम को प्रयोग में लाया जाता है। रंग की पकड़ बनाने के लिए बबूल के वृक्ष की गोंद को मिलाया जाता है।

समय के साथ मधुबनी चित्र को बनाने के पीछे के मायने भी बदल चुके हैं, लेकिन ये कला अपने आप में इतना कुछ समेटे हुए हैं कि यह आज भी कला के कद्रदानों की चुनिन्दा पसंद में से है।

हस्त निर्मित पेपर

चित्रण से पूर्व हस्त नर्मित कागज को तैयार करने के लिऐ कागज पर गाय के गोबर का घोल बनाकर तथा इसमें बबूल का गोंद डाला जाता है। सूती कपड़े से गोबर के घोल को कागज पर लगाया जाता है और धूप में सुखाने के लिए रख दिया जाता है।

प्रकार

मधुबनी चित्रकला

मधुबनी चित्रकला दीवार, केन्वास एवं हस्त निर्मित कागज पर वर्तमान समय में चित्रकारों द्वारा बनायी जाती हैं।

भित्ति चित्र

मधुबनी भित्ति चित्र में मिट्टी (चिकनी) व गाय के गोबर के मिश्रण में बबूल की गोंद मिलाकर दीवारों पर लिपाई की जाती है। गाय के गोबर में एक खास तरह का रसायन पदार्थ होने के कारण दीवार पर विशेष चमक आ जाती है। इसे घर की तीन खास जगहों पर ही बनाने की परंपरा है, जैसे- पूजास्थान, कोहबर कक्ष (विवाहितों के कमरे में) और शादी या किसी खास उत्सव पर घर की बाहरी दीवारों पर। मधुबनी पेंटिंग में जिन देवी-देवताओं का चित्रण किया जाता है, वे हैं- मां दुर्गा, काली, सीता-राम, राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती, गौरी-गणेश और विष्णु के दस अवतार इत्यादि। इन तस्वीरों के अलावा कई प्राकृतिक और रम्य नजारों की भी पेंटिंग बनाई जाती है। पशु-पक्षी, वृक्ष, फूल-पत्ती आदि को स्वास्तिक की निशानी के साथ सजाया-संवारा जाता है।

4

पट्टचित्र

भारत के हर प्रांत की तरह उड़ीसा की भी संपन्न सांस्कृतिक परंपरा है। इसमें लोक कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाता या पातचित्र उड़िया लोककला की पहचान है। प्राचीन काल में इस कला को राजाओं महाराजाओं का संरक्षण प्राप्त था। विदेशी शासन के समय भारत की अन्य लोककलाओं की भाँति इसको भी बहुत क्षति पहुँची, लेकिन आज यह पुनः अपनी जड़ें मजबूत कर रही है।

पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में जगन्नाथ जी का प्रचार करने के उद्देश्य से यह कला प्रचलित हुई थी। ये कलाकृतियाँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती हैं,

भित्तिचित्र या दीवारों पर बनाई जाने वाली कलाकृतियाँ,

पटचित्र या कपड़े पर बनाई जाने वाली कलाकृतियाँ और

तालपटचित्र या ताड़ के पत्तों बनाई जाने वाली कलाकृतियाँ।

इनके प्राचीन स्वरूप में शुरू से आज तक अधिक परिवर्तन नहीं आया है, हालाँकि नये-नये प्रयोग होते रहे हैं। पुरी शहर के पास रघुराजपुर नामक एक छोटे से शहर में करीब 200 परिवार पटचित्र की कला को जीवित रखने में जुटे हुए हैं। वे इस काम के लिये प्राचीन पारंपरिक और विरासत में मिली पुस्तकों का सहयोग भी लेते हैं।

ताड़ के पत्तों को चित्रफलक की तरह प्रयोग करने की परंपरा लगभग पूरे भारत में है, पर उड़ीसा के लोक कलाकारों ने इसको नये आयाम दिये हैं। इस

कला में पेड़ के पत्तों को जोड़ कर चौकोर बनाया जाता है और बाद में इस पर चित्रकारी की जाती है।

प्राचीन काल में इनके विषय में बड़े-बड़े राजा महाराजाओं के चित्र, कुछ कथा कहानियाँ या प्रादेशिक नृत्य पर आधारित होते थे। रामायण और भागवत चित्रकारों के प्रिय विषय थे। पारिवारिक देव-देवताओं को भी इस लोक कला में स्थान मिला है। परंपरागत चित्रकला में राधा, कृष्ण, सरस्वती, दुर्गा और गणेश की तसवीरे ज्यादा बनाई जाती हैं।

पर्यटको और दर्शन के लिये पुरी आने वाले लोगों को ये पटचित्र सरलता से अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। सच मानिये तो इनको खरीदे बिना उड़ीसा की यात्रा पूरी नहीं होती। इनकी लोकप्रियता के कारण ज्यादा खपत को देखते हुये तरह तरह के चित्रों का प्रचलन शुरू हो गया है। नये-नये विषयों का समावेश हुआ है और सौ से लेकर हजारों रूपयों तक की जगन्नाथ, बालभद्र और सुभद्रा के पटचित्र मिलने लगे हैं।

पट्टाचित्र, पश्चिम बंगाल और ओड़िशा के पूर्वी भारतीय राज्यों में स्थित पारंपरिक, कपड़ा आधारित स्क्रॉल पेंटिंग के लिए एक सामान्य शब्द है। पट्टाचत्र कलाकृति अपने जटिल विवरणों के साथ-साथ पौराणिक कथाओ और इसमें वर्णित लोककथाओं के लिए जाना जाता है। पट्टाचित्र ओड़िशा के प्राचीन कलाकृतियों में से एक है। Patrachitras एक प्राचीन बंगाली कथा कला का एक घटक है, मूल रूप से एक गीत के प्रदर्शन के दौरान एक दृश्य डिवाइस के रूप में सेवा।

ओड़िशा पट्टाचित्र की परंपरा भगवान जगन्नाथ की पूजा से निकटता से जुड़ी हुई है। छठी शताब्दी एडी के खंडदागिरी और उदयगिरी और सीताभिनजी मूर्तियों की गुफाओं पर पेंटिंग के खंडित साक्ष्य के अलावा, ओड़िशा की सबसे पुरानी स्वदेशी चित्र चित्रकारों द्वारा चित्रित पट्टाचित्र हैं (चित्रकारों को चित्रकार कहा जाता है)। वैष्णव संप्रदाय के चारो और उड़िया पेंटिंग केंद्रों का विषय। पट्टाचित्र संस्कृति की शुरुआत के बाद से भगवान जगन्नाथ जो भगवान कृष्ण का अवतार थे प्रेरणा का प्रमुख स्त्रोत थे। पट्टा चित्र का विषय ज्यादातर पौराणिक, धार्मिक कहानिया और लोक कथा है। थीम्स मुख्य रूप से भगवान जगन्नाथ और राधा-कृष्ण, जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा के विभिन्न "वेस", मंदिर गतिविधियों, जयदेव के 'गीता गोविंदा', काम कुजारा नबा गुंजारा, रामायण, महाभारत के आधार पर विष्णु के दस अवतार हैं। देवताओ और देवी-देवताओं

की व्यक्तिगत चित्रों को भी चित्रित किया जा रहा है। चित्रकार सब्जियो और खनिज रंगों का उपयोग कारखाने के लिए पोस्टर रंगों के बिना किए जाते हैं। वे अपने स्वयं के रंग तैयार करते हैं। एक बहुत ही खतरनाक प्रक्रिया में पाउडरिंग, उबलते और फिल्टरिंग द्वारा शंख–गोले से सफेद रंग बनाया जाता है। इसके लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता है, लेकिन यह प्रक्रिया रंग के प्रतिभा और premanence देता है। एक खनिज रंग 'हिंगुला' लाल रंग के लिए प्रयोग किया जाता है। पीले रंग के पत्थर के तत्त्वों के राजा 'हरिताल', 'रामराज' नीले रंग के लिए एक प्रकार का इंडिगो इस्तेमाल किया जा रहा है। नारियल के गोले जलने से तैयार शुद्ध दीपक–काला या काले का उपयोग किया जाता है। इन 'चित्रकारों' द्वारा उपयोग किए जाने वाले ब्रश भी स्वदेशी होते है और घरेलू जानवरों के बाल होते हैं। एक बांस छड़ी के अंत से बंधे बाल का एक समूह ब्रश बना देता है। यह वास्तव में आश्चर्य की बात है कि ये चित्रकार इस तरह के परिशुद्धता की रेखाएं कैसे लाते है और इन कच्चे ब्रश की मदद से खत्म करते हैं। उड़िया चित्रकला की पुरानी परंपरा अभी भी पुरी, रघुराजपुर, परालाखेमुंडी, चिकीटी और सोनपुर में चित्रकारों (पारंपरिक चित्रकार) के कुशल हाथों में बनी हुई है।

नाम का महत्त्व

संस्कृत भाषा में, "पट्टा" का शाब्दिक अर्थ है "कपड़ा" और "चित्र" का अर्थ "चित्र" है। इनमें से अधिकतर चित्र हिंदू देवताओं की कहानियों को दर्शाते हैं।

बंगाल पटचित्र

बंगाल Patachitra पश्चिम बंगाल की पेंटिंग को संदर्भित करता है। यह पश्चिम बंगाल की पारंपरिक और पौराणिक विरासत है। बंगाल पटचित्र को दुर्गा पट, चालचित्र, आदिवासी पटचित्र, मेदिनीपुर पटचित्र, कालीघाट पटचित्र और आदि जैसे–कुछ अलग–अलग पहलुओं में बांटा गया है। बंगाल पटचित्र का विषय ज्यादातर पौराणिक, धार्मिक कहानियां, लोक कथा और सामाजिक है। कालीघाट पटचित्र, बंगाल पटचित्र की आखिरी परंपरा जैमिनी रॉय द्वारा विकसित की गई है। बंगाल पटचित्र के कलाकार को पटुआ कहा जाता है।

पश्चिम बंगाल में नया गांव के पटचित्र अब लिस्बन में नेशनल म्यूजियम ऑफ एथ्नोलॉजी (अब एमएनई) संग्रहालय में एकत्र हुए हैं।

उत्पत्ति और इतिहास

बंगाल पटचित्र की पुरातात्विक गतिविधियों की प्रदर्शनी

पटचित्र अपने रंग के उत्कृष्ट खेल के लिए जाना जाता है। यह ग्रामीण बंगाल का पारंपरिक लोक कला रूप है। प्राचीन पतस की तिथियों के बारे में कुछ विवादास्पद राय हैं, लेकिन यह पटुआ संगीत जैसे–गीतों से जुड़े ऐतिहासिक विषयों के आधार पर सुझाव दिया गया है। यह पूर्व–पाल काल की तारीख है, जो अभी भी मिदनापुर, बांकुरा, पुरुलिया, हावड़ा, हुगली और 24 परगना के छोटे गांवों से दूर है। बंगाल पटचित्र को 1 शताब्दी ईस्वी में बौद्ध साहित्य में, दूसरी शताब्दी में हरिबान में, 4 वीं शताब्दी में अभ्यनशकणलमम और मालविकिकग्निर्त्र में क्रमश: 6 वी और 7 वीं–8 वीं शताब्दी में हरशाचारिता और उत्तरारामचार्य में संदर्भित किया जाता है।

उनकी पुस्तक लोक कला बंगाल में, लेखक अजीतकोमर मुखर्जी ने उल्लेख किया है कि बांकुरा जिले के मंदिरों में भित्तिचित्र शैली के कुछ जदु–पटुआ चित्रकला हैं।

थीम और स्टाइल

धार्मिक, धर्मनिरपेक्ष जैसे–कई प्रकार के बर्तन हैं। धार्मिक बर्तनों में हिंदू महाकाव्यों, पौराणिक कथाओं, रामायण, महाभारत की हिंदू देवताओ और देवी जैसे–कृष्णा, चैतन्य, काली, शिबा और मनशा और चंडी के स्वदेशी बंगाली लोकगीत, बेहुला और लक्षंदर सबसे लोकप्रिय हैं। धर्मनिरपेक्ष बर्तन महत्त्वपूर्ण समाचार घटनाओं, घोटाले दुर्घटनाओं आदि को दर्शाता है, जैसे–नारायणगढ़ में बस दुर्घटनाएं, ग्रामीण चुनाव, राशनिंग सिस्टम, परिवार नियोजन, दहेज प्रणाली की बुराई आदि। प्रत्येक पटचित्र के पास एक गीत है, जो कलाकारों को परेशान करते समय गाते हैं पट्टचित्र। बंगाल में गायन पॉट को पटुआ संगीत कहा जाता है। पटुआ संगीत या पोटर गण गायन बंगाल पटचित्र की सांस्कृतिक परंपरा है। यह पटुआ द्वारा किया जाता है। यह पश्चिम बंगाल के गांव के हिस्से में बीरभूम, झारग्राम, बर्धमान और मुर्शिदाबाद जैसे–पश्चिम बंगाल के लोक गीत के रूप में प्रसिद्ध है।

चित्रकला के पहलू

बंगाल पटचित्र चित्रकला में एक अलग प्रकार की आदर्शता और पहलू हैं, जो बंगाली संस्कृति को अनियंत्रित करते हैं। पौराणिक महाकाव्य और प्राकृतिक रंग का उपयोग करके यह बंगाल पटचित्र की व्यक्तिगत विशेषताओं में से एक है।

दुर्गा पॉट

दुर्गा पॉट भक्त पटचित्र के रूप में पहचाना जाता है, जिसे बीरभूम जिले के हत्सांद्री सूत्रधर समाज में पूजा की जाती है। इस प्रकार के पटचित्र की भी पूजा की जाती है। दुर्गा पॉट में एक अर्ध-परिपत्र पटचित्र है, जहां दुर्गा का पट्टाचित्र मध्य स्थान पर है। राम, सीता, शिब, नंदी-ब्रिंगी, ब्रह्मा, विष्णु, शुंभ-निशुंभ इस तरह के चालचत्र पर चित्रित हैं। कृष्णनगर राजराजेश्वर दुर्गा को विशिष्ट रूप से देखा जाना देखा जाता है। चालचित्र के बीच में, पंचान शिब और पार्वती उनके बगल में हैं, एक तरफ दशा-महाबीडिया और दूसरी तरफ दशबातर है।

तकनीक

रंग

प्राकृतिक रंग का उपयोग बंगाल पटचित्र की व्यक्तिगत विशेषताओं में से एक है। सामान्य रूप से, पश्चिम बंगाल के पटचित्र में नीले, पीले, हरे, लाल, भूरे, काले और सफेद का उपयोग किया जाता है। चाक धूल का उपयोग सफेद रंग के लिए किया जाता है, पीले रंग के लिए पौरी, नीले रंग के लिए खेती हुई इंडिगो, लाल रंग के लिए काले और मेटे सिंधुर के लिए भष्काली।

ओड़िशा पट्टाचित्र

पट्टाचित्र भारत के ओड़िशा की पारंपरिक पेंटिंग है। ये चित्र हिन्दू पौराणिक कथाओं पर आधारित है और विशेष रूप से जगन्नाथ और वैष्णव संप्रदाय से प्रेरित हैं। पेंटिंग्स में इस्तेमाल किए गए सभी रंग प्राकृतिक है और पेंटिंग्स को चित्रकारों द्वारा पूरी तरह पुराने पारंपरिक तरीके से बनाया जाता है, जो उड़िया पेंटर है। चित्रकला की पट्टाचित्र शैली ओड़िशा के सबसे पुराने और

सबसे लोकप्रिय कला रूपों में से एक है। पट्टाचित्र नाम संस्कृत शब्द पट्टा से विकसित हुआ है, जिसका अर्थ है कैनवास और चित्र, जिसका मतलब चित्र है। इस प्रकार पट्टाचित्र कैनवास पर एक पेंटिंग किया जाता है और समृद्ध रंगीन अनुप्रयोग, रचनात्मक रूपो और डिजाइनों और सरल विषयों के चित्रण, चित्रण में ज्यादातर पौराणिक कथाओं से चित्रित होता है। पट्टाचत्र चित्रों की परंपराएं हजारों साल से अधिक पुरानी हैं।

उत्पत्ति और इतिहास

उड़ीसा की चित्रों को माध्यम के दृष्टिकोण से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, यानी कपड़े या 'पट्टा चित्र' पर पेंटिंग, दीवारों पर पेंटिंग्स या 'भित्ति चित्र' और हथेली के पत्ते की नक्काशी या "ताला पत्र चित्र" या "पोथी, चित्र '। इन सभी की शैली एक निश्चित समय पर उतनी ही कम है, क्योंकि तत्कालीन कलाकारों को इन सभी मीडिया में काम करने के लिए कमीशन किया गया था, ऐसा माना जाता है।

'पट्टाचत्र' चित्रकला ओड़िशा के पुराने मूर्तियों जैसे–कि पुरी, कोणार्क और भुवनेश्वर क्षेत्र के धार्मिक केंद्रों की तरह है, जो 5 वीं शताब्दी ईसा पूर्व की थीं। सबसे अच्छा काम पुरी के आस-पास और आस-पास, विशेष रूप से रघुराजपुर गांव में पाया जाता है।

ओड़िया पेंटिंग की यह पुरानी परंपरा अभी भी पुरी, रघुराजपुर, परलाखेमुंडी, चिकती और सोनपुर जैसे–स्थानों में बनी हुई है। पिछले पेशे में, मास्टर पेंटर्स और मास्टर मूर्तिकारों के बीच कोई अलग अलगाव नहीं था, इसलिए ओड़िशा में पेंटिंग और मूर्तिकला कला की एक साथ उत्पत्ति की संभावना से इंनकार नहीं किया जा सकता है। आज भी ओड़िशा में, इन दो शिल्पों को एक और इन कलाकारों में जोड़ा जाता है और चित्रकारों के नाम से जाना जाता है, उनका शीर्षक ज्यादातर महापात्र या महाराणा रहता है। भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क के महान मंदिरों के निर्माण के बाद कई सदियों बाद ओड़िशा में पेंटिंग दिखाई दी। 18 वीं शताब्दी से कई मंदिरो और मथों में विशेष रूप से ओड़िशा के दक्षिणी जिलों में चित्रों की एक अच्छी संख्या मौजूद है। वर्तमान में भगवान जगन्नाथ को पट्टा शैली की उत्पत्ति के रूप में लिया जा रहा है। पुरी के देवताओं की रंग योजनाएं पट्टा शैली के समान ही हैं। पट्टा पेंटिंग्स का सबसे पुराना रिकॉर्ड शायद पुरी में श्री जगन्नाथ के वर्तमान मंदिर की स्थापना से परे नहीं है। यह इस

तथ्य के कारण हो सकता है कि पेंटिंग मूर्तियों की तरह जीवित नहीं रहती है। पुरी में भगवान जगन्नाथ के मंदिरों के अंदर पेंट्स तारीख को संभव बनाते हैं। केनजहर में सीताबनजी की सबसे पुरानी शास्त्रीय संगमरमर पेंटिंग पूरी तरह से पट्टा चित्रकला की वर्तमान शैली के अनुरूप नहीं है। तीन देवताओं की लकड़ी की मूर्तियां कपड़े से ढकी हुई है और फिर चॉक के साथ मिश्रित गोंद के साथ ओवरलैड होती हैं और फिर केवल लाल, पीले, सफेद और काले रंग के चार सीमित रंगों के साथ रंग दिया जाता है। देवताओं जो ओडिआस द्वारा उच्च सम्मान में आयोजित किए जाते है और जो लोग धर्म, जीवन और लोगों की गतिविधि को प्रेरित करते हैं, वे भी कला और चित्रकला की परंपरा रखते हैं, जो देवताओं के रूप में पुराना है। अगर जगन्नाथ की सावरा उत्पत्ति स्वीकार की जाती है, तो पट्टा चित्रों की तारीख को पहले की अवधि में दिनांकित किया जा सकता है। इन चित्रों को मूल रूप से पूजा के लिए प्रतिस्थापित किया गया था, जब मंदिर के दरवाजे देवता के 'अनुष्ठान स्नान' के लिए बंद थे।

थीम और स्टाइल

जगन्नाथ और वैष्णव संप्रदाय के चारो और ओडिया पेंटिंग केंद्रों का विषय। पट्टाचित्र संस्कृति की शुरुआत के बाद से, भगवान जगन्नाथ जो भगवान कृष्ण का अवतार थे, प्रेरणा का प्रमुख स्त्रोत रहा है। पट्टा चित्र का विषय ज्यादातर पौराणिक, धार्मिक कहानिया और लोक कथा है। थीम्स मुख्य रूप से भगवान जगन्नाथ और राधा-कृष्ण, श्री जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा, मंदिर गतिविधियों के विभिन्न "वेस", जयदेव के 'गीता गोविंदा', काम कुजारा नवगुंजारा, रामायण, महाभारत के आधार पर विष्णु के दस अवतार हैं। देवताओ और देवियों के व्यक्तिगत चित्रों को भी चित्रित किया जा रहा है। पट्टाचित्र शैली लोक और शास्त्रीय तत्त्वों दोनों का मिश्रण है, लेकिन लोक रूपों के प्रति अधिक झुकाव है। ड्रेस शैली में मुगल प्रभाव पड़ता है। सभी चवेमे कुछ अच्छी तरह से परिभाषित मुद्राओं तक ही सीमित हैं। ये एकान्त पुनरावृत्ति से मुक्त नहीं हैं, हालांकि कभी-कभी शैली के कथा चरित्र को बढ़ाने के लिए जरूरी है। रेखाएं बोल्ड और साफ और कोणीय और तेज हैं। आम तौर पर कोई परिदृश्य, दृष्टिकोण और दूरदर्शी विचार नहीं हैं। सभी घटनाएं निकट जुड़ाव में देखी जाती हैं। जिस पृष्ठभूमि पर आंकड़े दर्शाए जाते हैं, फूलो और पत्ते की सजावट के साथ चित्रित किया जाता है और ज्यादातर लाल रंग में चित्रित किया जाता है। सभी

चित्रों को सजावटी सीमाएं दी जाती हैं। पूरे चित्रकला को दिए गए कैनवास पर एक डिजाइन के रूप में माना जाता है।

विषयों को निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है

जगन्नाथ पेंटिंग्स

वैष्णव पेंटिंग्स

(ए) भागबत चित्रकारी (बी) रामायण पेंटिंग्स

शिव पेंटिंग्स

शक्ति चित्रकारी

किंवदंतियों के रूप में पेंटिंग्स

यामापति और यत्रिपत–(पुरी मंदिर के स्केच) गंजपा पेंटिंग पर कार्ड पेंटिंग और अन्य सोशल थीम खेल रहे हैं।

तकनीक

परंपरागत रूप से चित्रकार चित्रकार के रूप में जाना जाता है। परिवार के सभी सदस्यों के साथ एक पट्टा चित्रकार का घर उसका स्टूडियो है। महिला सदस्य गोंद, कैनवास तैयार करते है और रंगों को लागू करते हैं, जिन्हें हम भरते हैं और अंतिम लाह कोटिंग देते हैं। मास्टर हाथ, ज्यादातर पुरुष सदस्य, प्रारंभिक रेखा खींचता है और अंतिम परिष्करण देता है। कपास के कपड़े के छोटे पट्टियों पर पट्टा पेंटिंग्स की जाती है। कैनवास कपड़े को कोमल करके चमड़े के बीज से बने चाक और गम के मिश्रण के साथ तैयार किया जाता है। फिर यह दो अलग–अलग पत्थरों की मदद से रगड़ जाता है और फिर कपड़ा सूख जाता है। गम और चाक का मिश्रण कपड़ों की सतह को एक चमड़े का खत्म देता है, जिस पर कलाकार सब्जी, पृथ्वी और पत्थर के रंगों से पेंट करते हैं। चित्रकार प्रारंभिक चित्रों के लिए पेंसिल या चारकोल का उपयोग नहीं करते हैं। वे लाइन में इतने विशेषज्ञ हैं कि वे सीधे लाल या पीले रंग में ब्रश के साथ सीधे आकर्षित करते हैं। फिर रंग भर जाते हैं। अंतिम रेखाएं खींची जाती है और पट्टा को मौसम से बचाने के लिए एक लाख कोटिंग दिया जाता है, इस प्रकार पेंटिंग चमकदार बना देता है। ग्लेजिंग या वार्निंग की यह प्रक्रिया काफी रोचक है। पेंटिंग एक फायरप्लेस पर आयोजित की जाती है, ताकि चित्रकला के पीछे गर्मी के संपर्क में आ जाए। पेंटिंग ठीक लाह की सतह पर लागू किया जाता है।

रंग

16 वीं शताब्दी में, भक्ति आंदोलन के उद्भव के साथ राधा और कृष्ण की पेंटिंग नारंगी, लाल और पीले रंग के जीवंत रंगों में चित्रित की गई थीं। इन चित्रों में कृष्ण, गोपी, हाथी, पेड़ और अन्य प्राणियों जैसे–विशिष्ट दृश्य और आंकड़े दिखाई देते हैं। कृष्ण हमेशा हल्के गुलाबी, बैंगनी या भूरे रंग के रंगों में नीले और गोपी में चित्रित होते हैं।

चित्रकार पोस्टर रंगों के बने कारखाने के बिना सब्जी और खनिज रंगों का उपयोग करते हैं। वे अपने स्वयं के रंग तैयार करते हैं। एक बहुत ही खतरनाक प्रक्रिया में पाउडरिंग, उबलते और फिल्टरिंग द्वारा शंख–गोले से सफेद रंग बनाया जाता है। इसके लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता है, लेकिन यह प्रक्रिया रंग के प्रतिभा और premanence देता है। एक खनिज रंग 'हिंगुला' लाल रंग के लिए प्रयोग किया जाता है। पीले रंग के पत्थर के तत्त्वों के राजा 'हरिताल', 'रामराज' नीले रंग के लिए एक प्रकार का इंडिगो इस्तेमाल किया जा रहा है। नारियल के गोले जलने से तैयार शुद्ध दीपक–काला या काला का उपयोग किया जाता है। पहले रंग योजनाओं में कोई नीला या तो कोबाल्ट या अल्ट्रामैरिन नहीं था। पट्टा चित्रों में उपयोग किए जाने वाले रंग मुख्य रूप से उज्ज्वल रंग होते हैं, जो लाल, पीले, इंडिगो, काले और सफेद तक सीमित होते हैं। इन 'चित्रकारों' द्वारा उपयोग किए जाने वाले ब्रश भी स्वदेशी है और घरेलू जानवरों के बाल से बने होते हैं। एक बांस छड़ी के अंत से बंधे बाल का एक समूह ब्रश बना देता है। यह वास्तव में आश्चर्य की बात है कि ये चित्रकार इस तरह के परिशुद्धता की रेखाएं कैसे लाते है और इन कच्चे ब्रश की मदद से खत्म करते हैं।

पाम पत्ती पट्टाचित्र

पाम पत्ती पट्टाचित्र जो उड़िया भाषा में है, ताड़ के पत्ते पर खींचे जाने वाले ताला पट्टाचित्र के रूप में जाना जाता है। पेड़ से लिया जाने के बाद सभी हथेली के पत्तों को मुश्किल बनने के लिए छोड़ दिया जाता है। फिर इन्हें एक कैनवास की तरह बनाने के लिए एक साथ सिलवाया जाता है। छवियों को काले या सफेद स्याही का उपयोग करके पता लगाया जाता है, ताकि हथेली के पत्ते के बराबर आकार वाले पैनलों की पंक्तियों पर नक्काशीदार गुच्छे को भर दिया जा सके। इन पैनलों को आसानी से एक प्रशंसक की तरह फोल्ड किया जा सकता है और बेहतर संरक्षण के लिए एक कॉम्पैक्ट ढेर में पैक किया जा सकता

है। अक्सर हथेली के पत्ते के चित्र अधिक विस्तृत होते हैं, सतहों की सतह के लिए एक साथ चिपके हुए परतों को सुपरमोजिंग करके प्राप्त करते हैं, लेकिन कुछ क्षेत्रों में जैसे–खुले होते हैं पहली परत के तहत दूसरी छवि प्रकट करने के लिए छोटी खिड़कियां।

पट्टाचित्र के भौगोलिक संकेत

पटचित्र का भौगोलिक संकेत भारत के विभिन्न राज्यों के तहत पंजीकृत है, क्योंकि पश्चिम बंगाल की शैली और प्रकृति और ओड़िशा पटचित्र इतनी अलग हैं। पश्चिम बंगाल के पटचित्र को बंगाल पटचित्र के रूप में पंजीकृत किया गया है और ओड़िशा के पटचित्र को उड़ीसा पट्टाचित्र के रूप में पंजीकृत किया गया है।

ओड़िशा के पटचित्र

यह कहना तो कठिन होगा कि ओड़िशा के पटचित्र कब और कैसे बनना आरम्भ हुए, परन्तु इनकी परम्परा प्राचीन है यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। पटचित्रों के उदभव् के संबंध में कोई प्रामाणिक उल्लेख तो नहीं मिलता परन्तु जगन्नाथ उपासना से इनके निकट सम्बन्ध के कारण इनकी प्राचीनता संदेह से परे हैं। पुरी में जगन्नाथ मंदिर का निर्माण आठवीं सदी में हो गया था, परन्तु जगन्नाथ प्रतिमा का रंगांकन सहित जैसा रूप वर्तमान में है, उसका सबसे पुराना उदाहरण सत्रहवीं सदी में बने चित्रों में मिलता है। इस तथ्य के आधार पर हम इतना तो मान ही सकते हैं कि यह परंपरा लगभग चार सौ साल पुरानी है।

जगन्नाथ उपासना की परम्परा में पटचित्र का उपयोग उस अवधि में पूजा–अर्चना हेतु किया जाता है, जब अनुष्ठानिक स्नान की रीति निर्वाहन के लिए जगन्नाथ जी के मंदिर के द्वार बंद कर दिए जाते हैं। इस समय यह चित्र,मूर्ति के पर्याय स्वरूप पूजा हेतु प्रयुक्त किये जाते हैं।

इन चित्रों का निर्माण सूती कपड़े की दो परतों को लेही द्वारा आपस में चिपका कर तैयार की गयी सतह पर किया जाता है। कपड़े से इस प्रकार तैयार की गयी सतह पट या पट्ट कहलाती है, इसी कारण यह चित्र, पटचित्र कहलाते हैं। विद्वानों के अनुसार इस चित्रण शैली मैं लोक एवं शास्त्रीय दौनों ही तत्त्वों का समावेश है तथा इन्हें बनाने में भुवनेश्वर, पुरी एवं कोणार्क के मंदिर एवं प्रासादों में बनाए गए म्यूरल चित्रों से प्रेरणा ली गयी है।

ओड़िशा के अधिकांश पटचित्रकार मानते हैं कि पटचित्रों का विकास जात्री चित्रों के रूप में हुआ है। सामान्यत: तीर्थयात्रा को जात्रा भी कहा जाता है, जगन्नाथ जी की वार्षिक रथयात्रा भी जात्रा कहलाती है। इन्ही अवसरों पर आने वाले तीर्थयात्री, जात्री कहे जाते हैं। यह पटचित्रा मुख्यत: उन्ही तीर्थयात्रियों हेतु बनाये जाते थे, जो देश के दूर-दराज के इलाकों से यहाँ जगन्नाथ जी के दर्शनार्थ आते थे। तीर्थयात्रा से लौटते समय वे इन चित्रों को जगन्नाथ पुरी के पवित्र प्रसाद स्वरूप एवं तीर्थ स्मृति के प्रतीक की भांति अपने साथ ले जाते थे। आम तौर पर वे इन्हे माथे पर या गले में धारण करते थे अथवा अपने घर के पूजास्थान में रखते थे। आरम्भ में जो पटचित्र बनाये जाते थे वे आज बनाये जाने वाले पटचित्रों जैसे–नहीं होते थे। इनका आकार बहुत छोटा रखा जाता था और इन पर केवल जगन्नाथ, सुभद्रा एवं बलभद्र का चित्रंकन किया जाता था।

यह जात्री चित्र दो आकार के बनाये जाते थे गोल और आयताकार। गोल चित्र टिकली कहलाते थे, इन्हे स्त्रियां माथे पर लगाती थीं तथा आयताकार चित्र पदक कहलाते थे, जिन्हे पुरुष गले में तावीज की तरह पहनते थे। इन बहुत छोटे आकार के चित्रों के साथ, खड़े आयताकार चित्र भी बनाये जाते थे, जिनकी ऊंचाई लगभग दस इंच और चौड़ाई लगभग आठ इंच राखी जाती थी। पुरी के जगन्नाथ मंदिर के तीर्थ परिसर को दर्शाने वाले यह चित्र, ठिया बढ़िया चित्र कहलाते थे। उड़िया भाषा में ठिया का अर्थ है खड़ा आयताकार और बढ़िया का अर्थ है अच्छा, इस प्रकार ठिया बढ़िया का अर्थ हुआ सुन्दर खड़ा आयताकार चित्र। इन चित्रों का प्रारूप लगभग निश्चित होता है तथा इनमें पुरी और वहां स्थित जगन्नाथ मंदिर के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थान एवं घटना को दर्शाया जाता है।

पट के अतिरिक्त कुछ जात्री चित्र कागज पर भी बनाये जाते थे, जिन्हे पाना/पन्ना एवं गोलो कहा जाता था। पाना का माप दस से बारह इंच और गोलो का माप तीन से छ: इंच के मध्य रखा जाता था। मजबूती देने और पानी के प्रभाव से बचे के लिए इन पर गर्म लाख का लेप किया जाता था।

जात्री पटचित्रों को मजबूती देने के लिए इन्हें कुछ मोटे सूती कपड़े से बनाये गए पट पर चित्रित किया जाता था तथा अंत में उन पर गर्म लाख का लेप कर दिया जाता था, ताकि वे पानी से खराब न हों। चित्र पर लाख चढ़ाने की यह प्रक्रिया जाऊ साल कहलाती थी। यह जात्री चित्र मुख्यत: पुरी, रघुराजपुर एवं डंडासाही आदि गावों में बनाये जाते थे और इन्हें अधिकांशत: स्त्रियाँ बनाती थीं। टिकली और पदक जैसे–छोटे आकर के चित्रों को एक साथ बड़ी संख्या

में किसी बड़े पट पर बनाकर बाद में उन्हें कैंची से काटकर अलग-अलग कर लिया जाता था। सन् 1970 के दशक में प्लास्टिक और धातु के बने पदक और टिकली बाजार में आ जाने के कारण पारंरिक टिकली और पदक की लोकप्रियता खत्म होने लगी और अंततः उनका प्रचलन मृतप्रायः हो गया।

वर्तमान में टिकली एवं पदक अदि का बनाया जाना लगभग समाप्त हो गया है, परन्तु पाना, गोलो एवं ठिया बढ़िया अब भी बनाये जाते हैं। कालांतर में इन पारम्परिक पटचित्रों का स्वरूप बहुत बदल गया है, परन्तु उनकी मूल विषय-वस्तु और चित्रण शैली वैसी ही बनी हुई है। सन् 2004 में पुरी में श्रीमती निषामणी महाराणा, श्रीमती बाऊ रानी महपात्र, श्रीमती पार्वती महाराणा य डंडासाहि गांव में श्रीमती हीरा महाराणा, श्रीमती सीता महाराणा एवं मण्डिया महाराणा तथा रघुराजपुर में बाबाजी महराणा पाना एवं गोलो बनाने वाले दक्ष चित्रकार थे।

देश की आजादी से पहले रियासतों के जमाने में पुरी के राजा,जगन्नाथ मंदिर की सेवा हेतु दरबार के अपने चित्रकार रखा करते थे, जो समय-समय पर मंदिर की चित्रकारी सम्बन्धी आवश्यकताएं पूरी करते थे। इसी प्रकार ओड़िशा की सभी छोटी-छोटी रियासतो और जमींदारियों के अपने-अपने चित्रकार होते थे, जो वहां स्थित मंदिरों में चित्रकारी करते थे। सन् 1950 के आस-पास पुरी में राम महाराणा, कृष्ण महाराणा तथा मार्कण्ड महाराणा बहुत प्रसिद्ध एवं दक्ष पट चित्रकार थे, जो जगन्नाथ मंदिर से सम्बद्ध थे।

ओड़िशा में चित्रित मूर्तियों एवं लकड़ी से बने बक्सों पर चित्रकारी की समृद्ध परम्परा है। अधिकांशतः चित्रकार एवं मूर्तिकार एक ही समुदाय से होते हैं, जिन्हें महाराणा अथवा महापात्र कहा जाता है। पहले तो अनेक चित्रकार ही मूर्तिकार भी होते थे। लकड़ी से बनाई गयी जगन्नाथ मूर्तियों पर कपड़ा चढ़ा कर रंगांकन किया जाता था, अतः उन्हें बनाने के लिए मूर्तिकार को चित्रकारी भी आनी आवश्यक थी। मंदिरों में चित्रकारी का काम सभी महाराणा चित्रकार नहीं कर सकते, केवल वही चित्रकार कर सकते हैं, जिनके परिवारों को यह अधिकार पारम्परिक रूप से प्राप्त है। यह व्यवस्था आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

बनाये जाने वाले जात्री चित्र, जिन्हें जात्री पट्टी भी कहा जाता था, निम्न थे-

टिकली-गोलाकार अथवा अंडाकार में बने इन चित्रों का माप एक इंच या इससे काम रखा जाता था। इन्हे स्त्रियां माथे पर बिंदी की तरह लगतीं थीं।

इनमे अधिकांशत: केवल जगन्नाथ जी का चित्रंकन किया जाता था, परन्तु कभी-कभी सुभद्रा और बलभद्र भी चित्रित कर दिए जाते थे।

पदक-इन आयताकार चित्रों का माप एक इंच या इससे काम रखा जाता था। इन्हे पुरुष गले में तावीज की तरह पहनते थे। इनमे जगन्नाथ जी का चित्रंकन किया जाता था तथा कभी-कभी सुभद्रा और बलभद्र भी चित्रित कर दिए जाते थे।

पाना/पन्ना-यह चित्र, पट पर नहीं बल्कि कागज बनाये जाते थे, जिस कारण इन्हे पाना या पन्ना कहा जाता था। इनका माप दस से बारह इंच रखा जाता था और इन पर केवल जगन्नाथ जी अथवा कभी-कभी सुभद्रा और बलभद्र भी चित्रित कर दिये जाते थे।

गोलो-कागज पर बनाये गए इन गोलाकार चित्रों का माप तीन से छ: इंच के मध्य रखा जाता था। इन पर जगन्नाथ, सुभद्रा और बलभद्र चित्रित कर दिये जाते थे।

ठिया बढ़िया पटचित्र

सामान्य भाषा में कहें, तो खड़े प्रारूप वाले पट चित्र, ठिया बढ़िया कहलाते हैं। इन चित्रों में पुरी के जगन्नाथ मंदिर की स्थिति, उसकी बनावट, उसके प्रमुख पात्र, महत्त्वपूर्ण पवित्र स्थल एवं वहां आयोजित विभिन्न गतिविधियां, जगन्नाथ और उनसे सम्बद्ध देवकुल आदि को दर्शाया जाता है। चित्र का प्रारूप इस प्रकार निरूपित किया जाता है कि वे भक्त जो पुरी के जगन्नाथ मंदिर नहीं आ सके हैं, इस चित्र के माध्यम से सम्पूर्ण मंदिर परिसर के दर्शन एवं वहां आयोजित होने वाली विभिन्न धार्मिक गतिविधियो और उसकी परिकल्पना की अनुभूति कर सकें।

इन चित्रों के प्रारूप, चित्रांकित किये जाने वाले चरित्र, स्थल तथा गतिविधियां आदि लगभग निश्चित होती हैं, परन्तु प्रत्येक चित्र में उनका दर्शाया जाना, वहां उपलब्ध स्थान पर निर्भर करता है। बड़े आकर के चित्र में प्रत्येक घटना का चित्रण अधिक विवरणों सहित और सुस्पष्ट रूप से किया जाता है। परन्तु छोटे आकर के चित्र में कम महत्त्व के चरित्रों को छोड़ दिया जाता है या केवल प्रतीकात्मक रूप से दर्शा दिया जाता है। दर्शक चित्रित चरित्रों की पहचान उनके रंग और स्थान से ही करते हैं।

ठिया बढ़िया चित्रों में जगन्नाथ मंदिर के जिन महत्त्वपूर्ण स्थानों को दर्शाया जाता है, उनमें मंदिर की बाहरी चारदीवारी मेघनाद पाचिरि, मंदिर की भीतरी चारदीवारी, कूर्म पाचिरि, सिंह द्वार, मुख्य मंदिर बड़ देउल, जगमोहन नाट्यमण्डल, भोगमण्डप, अरुण स्तम्भ, बारह भाई हनुमान मंदिर, लक्ष्मी मंदिर, बेडा काली मंदिर, स्नान वेदी, रसोई साल एवं आनंद बाजार आदि हैं।

ठिया बढ़िया चित्र जगन्नाथ मंदिर के वास्तविक वास्तुशिल्पीय प्रारूप को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं। मंदिर की बनावट किस दिशा में कैसी है, उसे वैसा ही दर्शाने का प्रयास किया जाता है। चित्र का आधार पूर्व दिशा, शीर्ष पश्चिम दिशा, दाहिना भाग उत्तर दिशा एवं बायाँ भाग दक्षिण दिशा को दर्शाता है। चित्र के आधार पर अंकित मंदिर का सिंहद्वार पूर्व दिशा का द्योतक है,क्योकि वास्तव में मंदिर का सिंहद्वार पूर्व दिशा में है।

जगन्नाथ मंदिर के चार द्वार हैं, सामने पूर्व दिशा की ओर मुख्य सिंहद्वार, दाहिनी ओर अर्थात उत्तर दिशा में हाथीद्वार, बांयी ओर अर्थात दक्षिण दिशा में घोड़ा द्वार तथा पीछे की ओर यानि पश्चिम दिशा में बाघ द्वार। सामान्यतः ठिया बढ़िया चित्रों में स्थान की कमी के कारण केवल सिंहद्वार ही दर्शाया जाता है। चित्र में चारो ओर बनाया गया बार्डर मंदिर की बाहरी चारदीवारी जिसे मेघनाद पाचिरि कहते हैं, को दर्शाता है।

इन चित्रों में अंकित किये जाने वाले चरित्र, स्थान और प्रसंग निम्न हैं।

कांची अभियान–कांची अभियान की कथा, ओड़िशा के लोक विश्वास एवं जन कथानकों का अभिन्न अंग है। यह कथा पुरी के राजाओं का जगन्नाथ के प्रति भक्तिभाव और आस्था को बड़े ही सरल तरीके से दर्शाती है। माना जाता है कि यह कथा उस समय की है, जब पुरी पर पुरुषोत्तम देव गजपति नामक राजा राज्य करते थे। वे तमिलनाडु के कांचीपुरम की राजकुमारी पद्मावती से प्रेम करते थे और उससे विवाह करना चाहते थे, परन्तु कांचीपुरम नरेश अपनी पुत्री का विवाह पुरुषोत्तम देव से इस कारण नहीं करना चाहते थे, क्योंकि पुरुषोत्तम देव प्रत्येक वर्ष जगन्नाथ रथ यात्रा के समय स्वयं सड़क पर झाड़ू लगते थे और कांचीपुरम के राजा, झाड़ू लगाने को एक चांडाल कर्म समझते थे, वे अपनी पुत्री का विवाह किसी चांडाल कर्मी से नहीं कर सकते थे। उनके इस उत्तर को सुनकर पुरुषोत्तम देव बहुत क्रुद्ध हो गये और उन्हीने जगन्नाथ से प्रार्थना की कि वे कांचीपुरम विजय करने में उनकी सहायता करें। जब वे कांचीपुरम पर आक्रमण हेतु अपनी सेना लेकर चले और पटना नामक गांव के पास पहुंचे तब

उन्हें वहां माणिक नाम की दहीवाली मिली, जिसने उन्हें बताया कि कुछ देर पहले काले और सफेद धोड़ो पर सवार दो भाई सैनिक वेश में कांचीपुरम की और गए हैं। वे दोनों गर्मी से बहुत परेशान थे इसलिए उन्होंने मेरा दही खाया, परन्तु उनके पास पैसे नहीं थे, उन्होंने मुझे अपनी अंगूठी दी और कहा कि पीछे राजा आ रहे हैं, उन्हें यह अंगूठी देकर अपने दही की कीमत ले लेना। यह सुनकर राजा ने समझ लिया कि स्वयं जगन्नाथ और बलभद्र उनकी सहायता के लिए आगे गए हैं। उन्होंने दहीवाली को कहा कि तुम धन्य को कि तुमने जगन्नाथ और बलभद्र का साक्षात् दर्शन कर लिया। राजा ने दहीवाली के नाम पर उस गांव का नाम माणिक पटना रख दिया। तदुपरांत काँची पर विजय प्राप्त की और पद्मावती से विवाह कर पुरी लौटे। इस सम्पूर्ण घटनाक्रम को दर्शाने वाली मूर्तियां जगन्नाथ मंदिर के नाट्य मंडप में बानी हुई हैं।

कांची अभियान का यह प्रकरण ठिया बढ़िया चित्रों में ऊपर के भाग में बनाया जाता है, जिसमें सफेद घोड़े पर जगन्नाथ और काले घोड़े पर बलभद्र सवार दिखाए जाते हैं, जगन्नाथ को काले एवं बलभद्र को सफेद रंग से चित्रित किया जाता है। एक ओर माणिक दहीवाली भी अंकित की जाती है।

इस प्रकरण के चित्रण द्वारा, जगन्नाथ के प्रति पुरी के राजाओं के विश्वास और समर्पण की कथा जन-जन तक पहुँचती है।

दशावतार-उड़िया संस्कृति में जगन्नाथ को नारायण का ही एक रूप मन जाता है। यह भी विश्वास किया जाता है कि नारायण ने चार युगों में दस अवतार लिए हैं, जो दशावतार कहलाते हैं। सतयुग में मतस्य अवतार, कच्छप अवतार, वराह अवतार, नृहसिंह अवतार एवं वामन अवतार, त्रेता युग में परशुराम और राम अवतार, द्वापर युग में बलराम अवतार, कलियुग में बुद्ध एवं कल्कि अवतार। नारायण के इन दस रूपों को दर्शाने हेतु ठिया बढ़िया चित्रों में दशावतर चित्रित किये जाते हैं तथा इन्हें चित्र के ऊपरी भाग में बनाया जाता है। बुद्ध अवतार में बुद्ध के स्थान पर स्वयं जगन्नाथ को चित्रित किया जाता है,विश्वास किया जाता है कि बुद्ध और जगन्नाथ एक ही हैं।

पुरी में जगन्नाथ मंदिर के सिंहद्वार की चौखट में दशावतार की मूर्तियां उत्कीर्ण की गयी हैं, उन्ही का प्रतिनिधित्व ठिया बढ़िया में चित्रित दशावतार के यह चित्र करते हैं।

राम-लक्ष्मण एवं रावण युद्ध-रामलीला और कृष्णलीला से सम्बंधित अनेक चित्र जगन्नाथ मंदिर के साथ बने नाट्य मंडप की छत और दीवारों पर

बने हैं, ठिया बढ़िया चित्रों में बनाया जाने वाला यह दृश्य उन्ही का प्रधिनिधित्व करता है। राम-लक्ष्मण एवं रावण के युद्ध का यह दृश्य चित्र के ऊपरे भाग में बांयी ओर बनाया जाता है। राम को नीले और लक्ष्मण को पीले रंग से चित्रित किया जाता है।

अनन्त शयन-विश्वास किया जाता है कि नारायण का यह आदिरूप है, जिसमें वह क्षीरसागर में शेषनाग पर शयन करते रहते हैं। जब कभी देवताओं अथवा मानवों पर कोई भरी विपत्ति आती है तो अवतार रूप में प्रकट होते हैं। जगन्नाथ मंदिर के नाट्य मंडप में नारायण अनन्त शयन की प्रस्तर प्रतिमा एवं चित्र बने हुए हैं, ठिया बढ़िया चित्रों के ऊपरी भाग में बनाया जाने वाला यह दृश्य उन्ही का प्रतिनिधित्व करता है। इस दृश्य में क्षीरसागर में शेषनाग पर शयन करते नारायण, उनके पैर दबातीं लक्ष्मी, सर के पास सरस्वती, नाभि कमल पर विराजमान बृह्मा,पास में गरुण, देवगण, नारद, इंद्र, सप्तऋषि अदि दर्शाये जाते हैं।

बारह भाई हनुमान-पुरी के जगन्नाथ मंदिर की कर्म पाचिरी और मेघनाद पाचिरी के मध्य बारह भाई हनुमान का मंदिर बना हुआ है। ठिया बढ़िया चित्रों में बनाया जाने वाला यह दृश्य उसी का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु इसमें चित्रित किये जाने वाले हनुमान भाइयों की संख्या उपलब्ध स्थान पर निर्भर करती है। सामान्यत: इसे ऊपर दाहिनी ओर चित्रित किया जाता है।

माना जाता है कि हनुमान बारह भाई थे, हनुमान, बाली, सुग्रीव, अंगद, नील, नल, जामवंत, सुसेन अदि। जगन्नाथ मंदिर में इन सभी को दर्शाया गया है, क्योंकि नारायण ने जब राम अवतार लिया तब हनुमान उनके भक्त और सेवक थे इसी की महत्ता दर्शाने हेतु इन्हें चित्रित किया जाता है।

अष्टवीर-पुरी के जगन्नाथ मंदिर में अष्टवीरों का चित्रण हुआ है, ठिया बढ़िया चित्रों में बनाया जाने वाला यह दृश्य उसी का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु इसमें चित्रित किये जाने वाले अष्टवीरों की संख्या उपलब्ध स्थान पर निर्भर करती है। सामान्यत: इसे मध्य भाग में चित्रित किया जाता है।

शीतला मंदिर-शीतला मंदिर, पुरी के जगन्नाथ मंदिर परिसर में उत्तर दिशा में स्थित है। इसी मंदिर के पास एक कुआँ स्थित है, जिसे सोना कुआँ कहा जाता है। सामान्यत: जगन्नाथ जी, जब स्नान करते है तब व उन्हें पानी से नहीं बल्कि मंत्रोच्चार से स्नान कराया जाता है। वर्ष में एकबार ज्येष्ठ माह की देव स्नान पूर्णिमा को उन्हें जल से स्नान कराया जाता है, जिसके लिए सोना

कुआँ का पानी प्रयोग में लाया जाता है। यह सोना कुआँ वर्ष भर बंद रखा जाता है, केवल इसी अवसर पर इसे खोलते हैं।

ठिया बढ़िया चित्र में शीतला मंदिर और सोना कुआँ का चित्रण, जगन्नाथ के जल स्नान की इस महत्त्वपूर्ण घटना प्रतिनिधित्व करता है। इसे चित्र में ऊपर बाई और दर्शाया जाता है।

विवाह मंडप–पुरी में मान्य परंपरा के अनुसार प्रति वर्ष ज्येष्ठ माह की चम्पक द्वादशी को जगन्नाथ मंदिर परिसर में कृष्ण और रुक्मणि का विवाह रचाया जाता है। इस आयोजन हेतु यहाँ स्थित विवाह मंडप में कृष्ण के मदनमोहन रूप की चांदी की बानी चलन्ति प्रतिमा और रुक्मणि की मूर्ति लायी जाती है और उनके माध्यम से विवाह का अनुष्ठान संपन्न किया जाता है। यह समारोह बहुत ही उल्ल्हास और जोर–शोर से मनाया जाता है, जिसमें सैकड़ों भक्त भाग लेते हैं।

आमतौर पर ठिया बढ़िया चित्रों में यह आयोजन दर्शाने हेतु विवाह मंडप का चित्रण किया जाता है, जिसे ऊपर दाहिनी ओर चित्रित किया जाता है।

दयणा चोरी–यद्यपि दयणा चोरी का प्रसंग पुरी के जगन्नाथ मंदिर में कहीं भी नहीं दर्शाया गया है, परन्तु जगन्नाथ से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग होने के कारण इसे ठिया बढ़िया चित्रों में चित्रित किया जाता है। प्रति वर्ष चैत्र माह में, पुरी में शाही जात्र, रामलीला आयोजित की जाती है। इस आयोजन में प्रस्तुत किया जाने वाला सबसे पहला प्रसंग दयणा चोरी का होता है। ठिया बढ़िया चित्रों में यह प्रसंग, ऊपर बांयी ओर चित्रित किया जाता है।

प्रचलित किवदंती के अनुसार प्रचीन समय में दयणा नामकी एक युवती थी, जिसे कुपित होकर एक ऋषि ने यह शाप दिया की वह युवती से जटा बनजाये। शापग्रस्त दयणा जटा रूप बन गयी और वर्षों इसी रूप में पड़ी रही। दयणा, जगन्नाथ की अनन्य भक्त थी और जटा रूप में भी वह जगन्नाथ की भक्ति करती रही। उसने आशा नहीं छोड़ी और जगन्नाथ से अपने उद्धार की प्रार्थना करती रही। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर जगन्नाथ ने उसका उद्धार किया और उसे जटा से पुनः कन्या रूप प्रदान कर दिया। वे उसे ऋषि आश्रम से चुराकर बहार लाये और उसे स्वतंत्र जीवन जीने का अवसर प्रदान किया। जगन्नाथ द्वारा ऋषि आश्रम से दयणा को चुराकर लाने का यह प्रकरण दयणा चोरी के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बेड़ा काली मंदिर- पुरी स्थित जगन्नाथ मंदिर परिसर में काली मंदिर उत्तर दिशा में बना हुआ है। इसे सम्पूर्ण मंदिर परिसर की रक्षक मन जाता है, इसी कारण इसे बेड़ा काली भी कहा जाता है। यहाँ काली की प्रतिमा पत्थर की बानी हुई है। वर्ष में एकबार, जब जगन्नाथ प्रतिमा पर रंग-रोगन किया जाता है तब इस पर भी रंग किया जाता है।

ठिया बढ़िया चित्रों में इसे ऊपर दाहिनी ओर अंकित किया जाता है।

स्नान वेदि- प्रचलित परंपरा के अनुसार प्रतिवर्ष ज्येष्ठ पूर्णिमा जिसे देव स्नान पूर्णिमा भी कहते हैं, के दिन जगन्नाथ को जल स्नान कराया जाता है, जल स्नान का यह समारोह बहुत ही धूम-धाम से और विधिपूर्वक संपन्न किया जाता है। इस अवसर पर जगन्नाथ को मंदिर परिसर के पूर्वी-उत्तरी कोने पर बानी स्नान वेदी में ला कर यह अनुष्ठानिक स्नान पूरा किया जाता है। स्नान हेतु सोना कुआँ से साढ़े आठ कलश पानी लाया जाता है। स्नान वेदी पर विराजमान जगन्नाथ को उस दिन हाथी वेश में सजाया जाता है। शोलापिथ से हाथी के दो चेहरे बनाये हैं, एक काला और एक सफेद। काला चेहरा जगन्नाथ के लिए और सफेद बलभद्र के लिए।

इस दिन जगन्नाथ के हाथी वेश के सम्बन्ध में एक रोचक कथा प्रचलित है, कहते हैं एक बार एक तीर्थयात्री महाराष्ट्र से पुरी आया, उसके इष्टदेव गणेश थे इस कारण उसके मन में जगन्नाथ के लिए वह शृद्धा नहीं जगी जो गणेश के लिए थी। रात को उसे जगन्नाथ ने स्वप्न में दर्शन दिए और कहा कि तुम देव स्नान पूर्णिमा को आओ, तुम्हें मेरा हाथी रूप देखने को मिलेगा, क्योकि गणेश भी मैं ही हूं।

इसी देव स्नान आयोजन के प्रतिनिधि स्वरूप स्नान वेदि का चित्रण ठिया बढ़िया चित्रों में किया जाता है।

अणसर पट्टी-अणसर का अर्थ है बिना किसी अवसर का समय अर्थात वह समय जब कोई आयोजन न हो। अणसर की अवधि देव स्नान पूर्णिमा के अगले दिन से आरम्भ होकर अगले पंद्रह दिन रहती है। परम्परा के अनुसार स्नान के उपरांत जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा को रथयात्रा तक उनके मूलस्थान, रत्न सिंहासन पर नहीं बैठाया जाता। उन्हें मुख्य मंदिर,बड़ देउल में न रखकर, जगमोहन मंदिर की अणसर पिण्डी पर बैठाया जाता है। कहते हैं स्नान के बाद इन तीनों को बुखार हो जाता है और अणसर पिण्डी पर बैठाकर उनका इलाज किया जाता है। इस समय अणसर पिण्डी के आगे बांस की चटाई का पार्टीशन

लगाकर इन तीनों की मूर्तियों को छिपा दिया जाता है। इन पंद्रह दिनों दर्शनार्थियों को मूर्तियों के दर्शन नहीं होते, बल्कि उनके स्थान पर बांस की चटाई पर लटकाये गए उनके पटचित्र के दर्शन कराए जाते हैं। इन्ही के द्वारा भोग लगाया जाता है और इन्ही के द्वारा पूजा की जाती है। इस समय की जाने वाली उनकी सेवा गुप्त सेवा कहलाती है। यह पटचित्र अणसर पट्टी कहलाता है। अणसर पट्टी चित्र हर कोई चित्रकार नहीं बना सकता, केवल वही चित्रकार बना सकते हैं, जिन्हे यह बनाने का अधिकार राजवंश द्वारा दिया गया है। यह अधिकार प्राप्त परिवार, हाकिम चित्रकार परिवार कहलाता है। वर्तमान में यह कार्य पुरी के हरिहर महाराणा और उनका परिवार करता है।

अणसर का समय बीत जाने के बाद जगन्नाथ का नवयौवन दर्शन होता है। इस दर्शन के एक दिन पहले अणसर पट्टी हटा ली जाती है तथा इसे मंदिर परिसर में स्थित राधा-माधव मंदिर में लगा दिया जाता है।

अणसर पट्टी का जगन्नाथ पूजा में महत्त्व दर्शाने हेतु इसका चित्रण ठिया बढ़िया चित्रों में निचले भाग में किया जाता है।

रथजात्र-जगन्नाथ पुरी में प्रति वर्ष असाढ़ माह की शुक्ल द्वितीया से अगले नौ दिन तक जगन्नाथ रथ यात्रा आयोजित की जाती है,ठिया बढ़िया चित्रों में इस विषय पर किया जाने वाला चित्रण उसी को प्रतिबिंबित करता है।इसे सामान्यत: नीचे बांयी ओर अंकित किया जाता है, यदि स्थान उपलब्ध हो तो जगन्नाथ, सुभद्रा और बलभद्र तीनों को दर्शाया जाता है। इस यात्रा में रथ को जगन्नाथ मंदिर से गुंदेचा मंदिर तक ले जाया जाता है।

जय-विजय-जय-विजय का चित्रण ठिया बढ़िया चित्रों में निचले मध्य भाग में जगन्नाथ प्रतिमा के नीचे दोनो ओर किया जाता है। अधिकांशत: इन्हें नील रंग से बनाया जाता है। ये मंदिर के द्वारपाल होते हैं।

शिव-ब्रह्मा-जगन्नाथ मंदिर के नाट्य मंडप में शिव और ब्रह्मा की दो प्रस्तर प्रतिमाएं स्थित हैं, जिन्हें जगन्नाथ से प्रार्थना करते दिखाया गया है। ठिया बढ़िया चित्रों में चित्रित की जाने वाली शिव एवं ब्रह्मा आकृतियां इन्हीं का प्रतिनिधित्व करतीं हैं। नारायण, शिव एवं ब्रह्मा को आदि देव माना। पुरी के जगन्नाथ मंदिर में तीर्थयात्रियों को इन त्रिदेव के एक साथ दर्शन हो जाते हैं।

अरुण स्तम्भ-जगन्नाथ मंदिर के सिंह द्वार के सामने ग्रेनाइट पत्थर का बना एक स्तम्भ लगा है, जिसे अरुण स्तम्भ कहते हैं। माना जाता है कि यह

कोणार्क के सूर्य मंदिर से लाकर यहाँ स्थापित किया गया है। इन्हें सूर्य नारायण का वाहन माना जाता है।

गरुण स्तम्भ–अरुण एवं गरुण दौनों भाई–भाई मने जाते हैं। अरुण ज्येष्ठ है और गरुण कनिष्ठ। अरुण, सूर्य नारायण के वाहन है और गरुण, विष्णु नारायण के, क्योंकि दौनों ही नारायण से सम्बद्ध हैं, अत: उन्हें यहाँ चित्रित किया जाता है। गरुण स्तम्भ को ठिया बढ़िया चित्रों में शिव और ब्रह्ममा के मध्य दर्शाया जाता है।

पतितपावन–पतितपावन, जगन्नाथ का ही एक रूप है, जिसमें उन्हें एकल रूप में दर्शाया जाता है अर्थात उनके साथ सुभद्रा और बलभद्र को नहीं दिखाया जाता।

मुक्ति मंडप–मुक्ति मंडप, जगन्नाथ पुरी मंदिर परिसर का एक महत्त्वपूर्ण स्थल है, इसलिए इसे ठिया बढ़िया चित्रों में निचले भाग में दाहिनी ओर चित्रित किया जाता है।

आनंद बाजार–जगन्नाथ पुरी मंदिर परिसर के बाहरी बेड़ा में आनंद बाजार स्थित है। यहाँ जगन्नाथ के भोग प्रसाद की सामग्री बिकती है। आमतौर पर इसका अंकन ठिया बढ़िया चित्रों में मध्य में नीचे की ओर किया जाता है।

रसोईसाल–जगन्नाथ पुरी मंदिर परिसर में एक स्थाई रसोई है, इसे रसोई साल कहते हैं। यहाँ जगन्नाथ के भोग प्रसाद तैयार किया जाता है। इसका अंकन ठिया बढ़िया चित्रों में नीचे बांयी ओर किया जाता है।

समुद्र–पुरी का जगन्नाथ मंदिर समुद्र के किनारे स्थित है, बढ़िया चित्रों में मंदिर की यह स्थिति दर्शाने के लिए समुद्र का चित्रण नीचले दाहिने कोने में किया जाता है। वर्तमान समय में समुद्र जगन्नाथ मंदिर के सिंहद्वार के सामने लगभग 2–3 किलोमीटर दूर हो गया है। यह समुद्र तट कहोदधि कहलाता है और यहाँ स्नान करना पुण्यदायक मन जाता है।

अठारह नाला–पुरी नगर में प्रवेश करने के लिए मुसा नदी पर करनी पड़ती है। यह नदी पुरी में प्रवेश और उसकी नगर सीमा को दर्शाती है। माना जाता है कि मुसा नदी से अठारह नाले निकलते हैं, इसी नदी और इसके नालों को ठिया बढ़िया चित्रों में नीचे दाहिनी तरफ चित्रंकित किया जाता है।

सिद्ध महावीर–जो तीर्थयात्री जगन्नाथ पुरी सिद्धक्षेत्र की यात्रा हेतु आते हैं वे सिद्ध महावीर मंदिर अवश्य जाते हैं। यह मंदिर,जगन्नाथ मंदिर से लगभग पांच किलोमीटर दूर स्थित है और यहाँ प्रतिवर्ष कार्तिक माह में मेला लगता है। यह जगन्नाथ पुरी सिद्धक्षेत्र का एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक स्थल है इसलिए इसे ठिया बढ़िया चित्रों में निचले भाग में चित्रित किया जाता है।

माया मृग–माया मृग रामायण का एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है, इसे प्रमुखता के साथ ठिया बढ़िया चित्रों में मध्य भाग में चित्रित किया जाता है। रामलीला और कृष्णलीला से सम्बंधित अनेक चित्र जगन्नाथ मंदिर के साथ बने नाट्य मंडप की छत और दीवारों पर बने हैं, ठिया बढ़िया चित्रों में बनाया जाने वाला यह दृश्य उन्ही का प्रधिनिधित्व करता है।

सीता हरण–ठिया बढ़िया चित्रों में सीता हरण का चित्रण, जगन्नाथ मंदिर के नाट्य मंदिर में बने रामायण संबंधी चित्रों का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही यह नारायण के विभिन्न अवतारों से सम्बद्ध प्रमुख घटनाओं को भी दर्शाता है।

चित्रकारी की पत्ताचित्र शैली ओड़िशा की सबसे प्राचीन और सर्वाधिक लोकप्रिय कला का एक रूप है। पत्ताचित्र का नाम संस्कृत के पत्ता, जिसका अर्थ है कैनवास और चित्र जिसका अर्थ है तस्वीर शब्दों से मिलकर बना है। इस प्रकार पत्ताचित्र कैनवास पर की गई एक चित्रकारी है, जिसे चटकीले रंगों का प्रयोग करते हुए सुन्दर तस्वीरो और डिजाइनों में तथा साधारण विषयों को व्यक्त करते हुए प्रदर्शित किया जात है, जिनमें अधिकांशत: पौराणिक चित्रण होता है। इस कला के माध्यम से प्रदर्शित एक कुछ लोकप्रिय विषय है– थे या वाधिया–जगन्नाथ मंदिर का चित्रणय कृष्णलीला–जगन्नाथ का भगवान कृष्ण के रूप में छवि, जिसमें बाल रूप में उनकी शक्तियों को प्रदर्शित किया गया है, दसावतारा पति–भगवान विष्णु के दस अवतारय पंचमुखी–पांच सिरों वाले देवता के रूप में श्री गणेश जी का चित्रण। सबसे बढ़कर विषय ही साफ तौर पर इस कला का सार है, जो इस चित्रों अर्थ को परिकल्पित करते हैं। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस तरह की चित्रकारी करने की प्रक्रिया में पूरी तरह से ध्यान केन्द्रित करने और कुशल शिल्पकारिता की जरूरत होती है, जिसमें केवल पत्ता तैयार करने में ही पांच दिन लग जाते हैं।

यह कार्य सबसे पहल पत्ता बनाने से शुरू किया जाता है। शिल्पकार, जिन्हें चित्रकार भी कहा जाता है, सबसे पहले इमलह का पेस्ट बनाते हैं, जिसे बनाने के लिए इमली के बीजों को तीन दिन पानी में भिगो कर रखा जाता है। इसके बाद बीजों को पीस कर पानी में मिला दिया जाता है और पेस्ट बनाने के लिए इस मिश्रण को मिट्टी के बर्तन में डालकर गर्म किया जाता है। इसे निर्यास कल्प कहा जाता है। फिर इस पेस्ट से कपड़े के दो टुकड़ों को आपस में जोड़ा जाता है और उस पर कई बार कच्ची मिट्टी का लेप किया जाता है, जब तक कि वह पक्का

न हो जाए। जैसे–ही कपड़ा सूख जाता है तो उस पर खुरदरी मिट्टी के अन्तिम रूप से पालिश की जाती है। इसके बाद उसे एक नरम पत्थर अथवा लकड़ी से दबा दिया जाता है, जब तक कि उसको सतह एक दम नरम और चमड़े की तरह न हो जाए। यही कैनवास होता है, जिस पर चित्रकारी की जाती है।

पेंट तैयार करना संभवत: पत्ताचित्र बनाने का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसमें प्राकृतिक रूप में उपलब्ध कच्ची सामग्री को पेंट का सही रूप देने में चित्रकारों की शिल्पकारिता का प्रयोग होता है। केथा वृक्ष की गोंद इसकी मुख्य सामग्री है और भिन्न-भिन्न तरह के रंग द्रव्य तैयार करने के लिए एक बेस के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, जिसमें तरह-तरह की कच्ची सामग्री मिलाकर विविध रंग तैयार किए जाते है। उदाहरण के लिए शंख को उपयोग सफेद रंग बनाने और काजल को प्रयोग काला रंग बनाने के लिए किया जाता है। कीया के पौधे की जड़ का इस्तेमाल सामान्यत: एक साधारण ब्रूश बनाने और चूहे के बालों का प्रयोग जरूरत होने पर बढ़िया ब्रूश बनाने के लिए किया जाता है, जिन्हें लकड़ी के हैंडल से जो दिया जाता है।

पत्ताचित्र पर चित्रकारी एक अनुशासित कला है। इसमें चित्रकार अपनी रंग सज्जा, जिसमें एक ही संगत वाले रंगों का प्रयोग किया जाता है और नमूनों के प्रयोग की शैली का पूरी सख्ती से पालन करता है। स्वयं को इस कला के कुछ नियमों के दायरे में समेटकर ये चित्रकार इतनी सूक्ष्म अभिव्यक्ति करने वाले इतने सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं कि आश्चर्य होता है यह जानकर कि इसमें रंगों के विविध शेडो (रंगत) का प्रयोग निषिद्ध है। वास्तव में चित्रों में उभारी गई आकृतियों के भावों का प्रदर्शन ही इस कला का सुन्दरतम रूप है, जिसे चित्रकार पूरे यत्न से सुन्दर रंगों से सजाकर श्रेष्ठ रूप में प्रस्तुत करते हैं।

समय के साथ-साथ पत्ताचित्र की कला में उल्लेखनीय क्रांति आई है। चित्रकारों ने टस्सर सिल्क और ताड़पत्रों पर चित्रकारी की है और दीवारों पर लटकाए जाने वाले चित्र तथा शो पीस भी बनाए हैं। तथापि इस प्रकार की नवीनतम से आकृतियों की परम्परागत रूप में अभिव्यक्ति और रंगों के पारम्परिक प्रयोग में कोई रूकावट नहीं आई है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी उसी रूप बरकरार है। पत्ताचित्र की कला की प्रतिष्ठा को बनाए रखने में इसके प्रति चित्रकारों की निष्ठा एक मुख्य कारण है और ओड़िशा में इस कला को आगे बढ़ाने के लिए स्थापित किए कुछ विशेष केन्द्र इसकी लोकप्रियता को उजागर करते हैं।

5

पिथोरा चित्रकला

पिथोरा चित्रकला एक प्रकार की चित्रकला है। मध्य प्रदेश के पिथोरा क्षेत्र में इस कला का उद्‌गम स्थल माना जाता है। इस कला के विकास में भील जनजाति के लोगों का योगदान उल्लेखनीय है। इस कला में पारम्परिक रंगों का प्रयोग किया जाता था। प्रायः घरों की दीवारों पर यह चित्रकारी की जाती थी, परन्तु अद्यतन समय में यह कागजों, केन्वस, कपड़ों आदि पर की जाने लगी है। यह चित्रकला बड़ोदा से 90 किलोमीटर पर स्थित तेजगढ़ ग्राम (मध्य गुजरात) में रहने वाली राठवा, भील व नायक जनजाति के लोगों द्वारा दीवारों पर बनाई जाती है।

इसके अतिरिक्त बड़ोदा जिले के तेजगढ़ व छोटा नागपुर ताल्लुक के आस-पास भी पिथोरा चित्रकला घरों की तीन भीतरी दीवारों में काफी संख्या में वहां रहने वाले जनजातीय लोगों के घरों में देखी जा सकती हैं। पिथोरा चित्रकला का इन जनजातीय लोगों के जीवन में विशेष महत्त्व है तथा उनका यह मानना है कि इस चित्रकला को घरों की दीवारों पर चित्रित करने से घर में शान्ति, खुशहाली व सौहार्द का विकास होता है।

पिथोरा चित्रकला का चित्रण राठवा जाति के लोग ही सबसे अधिक करते हैं तथा अत्यन्त ही साधारण स्तर के, किन्तु धार्मिक लोग होते हैं। इनके लिए पिथोरा बाबा अति विशिष्ठ व पूजनीय होते हैं। इस चित्रकला के चित्रण में ये लोग बहुत धन लगाते हैं तथा जो अपने घर में अधिकाधिक पिथोरा चित्र रखते

हैं वे समाज में अति सम्माननीय होते हैं। पिथोरा चित्रकार को लखाड़ा कहा जाता है तथा जो इन चित्रकलाओं का खाता रखते हैं, उन्हें झोखरा कहा जाता है। सर्वोच्च पद पर आसीन जो पुजारी धार्मिक अनुष्ठान करवाता है, उसे बडवा या अध्यक्ष पुजारी कहते हैं। सामान्यत: लखाड़ा किसान होते हैं। इस् चित्रकला का चित्रण केवल पुरुष ही कर सकते हैं। खातों की देखरेख के अतिरिक्त लखाड़ा सामान्य चित्रण जैसे–रंग भरने का कार्य ही पिथोरा चित्रकारों में शामिल होकर कर सकते हैं। वरिष्ठ कलाकारों के मार्गदर्शन में लखाड़ा अच्छे चित्रकार बन जाते हैं। महिलाओं के लिए पिथोरा चित्रण निषेध है।

गुजरात और मध्य प्रदेश के भीलों की रथवा जनजाति का विश्वास है कि संसार की रचना पहली बरिश और पृथ्वी के संयोग से हुई। विश्व की अनेक प्रचीन सभ्यताओं की तरह उनके गीतों में चार महाद्वीप वाली रानी पृथ्वी और इंदीराजा का वर्णन है, जो स्वर्ग में रहता है। इस प्रकार पृथ्वी को माता और आकाश को पिता मानकर उनके साहित्य और कला की रचना हुई है। मिर्जापुरए होशंगाबाद पाषाण गुफाओ और नवादातोली के पात्रों पर बने हुए चित्र इन पौराणिक अवधारणाओं के बहुमूल्य ऐतिहासिक प्रमाण हैं। इन लोकचित्रों में बैल और गाय भी प्रमुखता के साथ चित्रित किये गए हैं।

जंगल, सागर, बादल, अंधे और लंगड़े प्राणियों को भी कला का विषय बनाया गया है। घोड़ों कर हर स्थान पर बहुत महत्त्व के साथ चित्रण हुआ है। उन्हें दौड़ते हुए और आकाश में उड़ते हुए दिखाया गया है। वे आदमियों भैंसों हलों गायों पेडों नगाड़े बजाने वालो और चीतों के साथ भीड़ में जलूस की तरह दिखाए गये हैं। आज भी इस जनजाति में विवाह जैसे–शुभ अवसरों पर घर के भीतर के कमरे में देवता की स्थापना की जाती है तथा दीवारों पर पारंपरिक नियमानुसार पिथोरो देव के चित्र अंकित किये जाते हैं। ये सभी चित्र जो पिथोरो के सम्मान में अंकित किये जाते है पिथोरा कहलाते हैं।

चित्र में केन्द्र का भाग विशेष महत्त्व का है, जहाँ पिथोरो के घोड़े को छोटी छोटी बिन्दियों अथवा रेखाओं द्वारा विशेष रूप से अलग कर के दिखाया गया है। दूसरी पंक्ति में अन्य चरित्र जैसे–सितुरानो, रानी काजल, पिथोरो, वलन या इंदीराजा को उनके विशेष रूप रंग अथवा हाव भाव जैसे–हुक्का पीते हुए या चिड़ियाँ पकड़े हुए अलग से पहचाना जा सकता है। इसके बाहरी और तीसरे हिस्से में रावण, ढोलची, बैलगाड़ियाँ और हाथी आदि चित्र को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। ये चित्र पहले स्टेंसिल पर बनाए गए और बाद में पूरे गए इन चित्रों में रंग भरते समय

विविधता और पारंपरिक महत्त्व का पूर्णरूप से ध्यान रखा जाता है। गुजरात की अन्य लोक कलाओं की भांति इन चित्रों में भी चटकीले रंगों और रंगों की विविधता के दर्शन होते हैं। पशुपक्षियों के चित्रण में विस्तार देखने को मिलता है और रेखओं में लय का सुंदर प्रयोग किया जाता है। घोड़े और हाथियों के वस्त्र तथा मछली और मुर्गियों का सौंदर्य देखते ही बनता है।

पिथोरा की ये विविधताएँ आज गुजरात में दीवारों, कपडों, चादरो और बगीचे की छतरियों में बहुलता से मिलती है। इन्हें गुर्जरी अथवा गुजरात इम्पोरियम जैसी सरकारी या गैर सरकारी हस्तकला संस्थाओं से हर दाम में प्राप्त किया जा सकता है। मूल चित्र काफी मंहगे हो सकते हैं, किन्तु प्रतिकृतियाँ बहुतायत में उपलब्ध है और इनके दाम भी कुछ अधिक नहीं।

सामाजिक महत्त्व

पिथोरा चित्रकला धार्मिक अनुष्ठानों से अधिक प्रभावित रहती है। इस जनजाति के धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन ईश्वर को धन्यवाद स्वरूप या किसी की इच्छापूर्ति आदि प्रदान करने हेतु किए जाते हैं। इस प्रक्रिया में बडवा या शीर्ष पुजारी को ही बुलाया जाता है, जो उनकी समस्याओं का निराकरण इन अनुष्ठानों द्वारा करवाते हैं। यह समस्याएँ चाहे किसी पशु-गाय, घोड़ा, हिरण, बैल, हाथी आदि की अप्राकृतिक मृत्यु अथवा घर के बच्चों की बीमारी से सम्बन्धित हो सकती हैं, जिसका समाधान बडवा द्वारा दे दिया जाता है व पूजा पाठ व पिथोरा चित्रकला बनाने का परामर्श स्वरूप उन्हें बडवा द्वारा दे दिया जाता है। पिथोरा बाबा की उपस्थिति को ही सबकी समस्याओं का एकमात्रा समाधान माना जाता है। पिथोरा चित्रकला सदैव घर के प्रवेश या ओसरी जो कि प्रथम कक्ष के सामने की दीवार या उसकी भीतरी दीवार पर की जाती है। इन दीवारों को विभिन्न आकृतियों द्वारा पूरी तरह चित्रित कर दिया जाता है।

तकनीक

पिथोरा चित्रकला के चरण

पिथोरा चित्रकार

रंग बनाने के लिए रंगीन पाउडर को दूध व महुआ (एक प्रकार की शराबद्ध का प्रयोग किया जाता है, जो कि महुआ के दिव्य वृक्ष से तैयार की

जाती है तथा फूलों द्वारा किण्वित करके यह मदिरा बनाई जाती है व इसके बीजों द्वारा खाद्य तेल निकाला जाता है, किन्तु आजकल चूंकि कपड़ों के रंग (फब्रिक कलर) स्थानीय दुकानों में उपलब्ध हैं, अतः इनका ही प्रयोग लोगों द्वारा किया जाता है। चित्रण हेतु मुख्यतः पीले, नारंगी, हरे, नीले, सिन्दूरी, लाल, आसमानी, काले व चांदनी रंगों का प्रयोग किया जाता है। ब्रूश बनाने के लिए बेंत या टहनी के किनारों को कूटा जाता है परंतु आज इनका स्थान बाजार में उपलब्ध ब्रूशों ने ले लिया है।

चित्रण हेतु सामने की दीवार बगल की दो दीवारों को तैयार किया जाता है तथा सामने की दीवार साथ वाली दीवारों से लगभग दुगनी होती है। इन दीवारों को पहले गाय के गोबार के घोल से दो बार लीपा जाता है व इसके ऊपर सफेद चॉक पाउडर से लीपकर चित्रण की सतह तैयार की जाती है। इस प्रक्रिया को लीपना कहा जाता है। मुख्य दीवार या बरामदे व रसोईघर का स्थान बहुत ही पवित्र माना जाता है। इस बरामदे की बगल की दो दीवारों का चित्रण भी सामान्य देवताओं, भूत-प्रेत व पूर्वजों की आकृतियां बनाकर किया जाता है।

लखाड़ा जब चित्रकारी करता है, बड़वा व उसके साथी पारम्परिक गीत गाते रहते हैं। पिथोरा चित्रकला में अधिकतर चित्रण इनके द्वारा किए जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों के समय का होता है। इसमें बीच में एक छोटा आयाताकार बनाया जाता है, जिसमें नारंगी बिन्दु अंगुलियों से बनाए जाते हैं, जिसे टीपना कहा जाता है तथा यह धार्मिक अनुष्ठान के अंत में चित्रकला के पूर्ण होने पर किया जाता है। टीपना के बगल में पिथोरा बाबा व पिथोरी (पिथोरा की पत्नी) का चित्र बनाया जाता है। सबसे ऊपर चंद्रमा, सूर्य, बंदरों आदि पशुओं के चित्र बनाए जाते हैं।

6

कालीघाट पेंटिंग

कालीघाट पेंटिंग या कालीघाट पैट का जन्म 19वीं शताब्दी बंगाल में, कालीघाट काली मंदिर, कालीघाट, कोलकाता, भारत के आस-पास और काली मंदिर में आगंतुकों द्वारा उठाए गए स्मारिका के सामान होने के कारण हुआ था, जो समय के साथ चित्रकला के रूप में विकसित हुआ था भारतीय चित्रकला का एक अलग स्कूल। हिंदू देवताओं, देवताओ और अन्य पौराणिक पात्रों के चित्रण से, कालीघाट चित्रों ने विभिन्न विषयों को दर्शाने के लिए विकसित किया।

इतिहास

उन्नीसवीं शताब्दी में, बंगाल में समृद्ध चित्रकला का एकमात्रा स्कूल ग्रामीण क्षेत्रों में लोकप्रिय स्क्रॉल पेंटिंग की पारंपरिक कला थी। ये चित्र कपड़े या पट पर किए गए थे। उन्होंने देवताओ और देवियो और तुलसीदास राम चारिता मानस जैसे–महाकाव्यों के दृश्यों की पारंपरिक छवियों को चित्रित किया। कलाकार ग्रामीण थे, जो अपनी स्क्रॉल पेंटिंग के साथ जगह से यात्रा करते थे और गांव सभाओ और विभिन्न त्यौहारों के दौरान पेंटिंग में चित्रित महाकाव्यों के दृश्य गाते थे। इन कलाकारों, जिन्हें पटुआ या 'कपड़े पर चित्रकार' कहा जाता है, उन्हें आधा हिंदू और आधा मुस्लिम माना जाता है और इस्लाम का अभ्यास किया जाता है।

ब्रिटिशः इस कला के संरक्षक के रूप में

इस बीच, अंग्रेजों ने खुद को देश में स्थापित करने के लिए राजनीतिक रूप से कला, साहित्य और संगीत में रूचि विकसित करना शुरू कर दिया। उन्होंने संस्थान स्थापित किए जो भारतीय कलाकारों को अकादमिक प्रशिक्षण की यूरोपीय शैली प्रदान करते थे। कलकत्ता स्कूल ऑफ आर्ट एक ऐसा स्कूल था और पारंपरिक कलाकारों को आकर्षित करता था–शहर के लिए पटुआ। प्रारंभ में ये कलाकार कलघाट में मंदिर के चारो और केंद्रित थे, जहां धार्मिक कला की मांग थी। धीरे–धीरे, उन्होंने नई तकनीकों से सीखना शुरू कर दिया और पाया कि इससे उनकी कमाई में वृद्धि हो सकती है। उन्होंने कला के नए रूपों को बनाना शुरू कर दिया और कालीघाट चित्रकला का जन्म हुआ।

ओरिएंटल और ओसीडेंटल कालीघाट

कालीघाट स्कूल पेंटिंग की दो अलग–अलग शैलियों का एक स्वीकार्य और अद्वितीय मिश्रण था–ओरिएंटल और ओसीडेंटल- और तेजी से लोकप्रियता प्राप्त की। कालीघाट कलाकारों ने चित्रित देवताओं में से देवी काली पसंदीदा थीं। दुर्गा, लक्ष्मी और अन्नपूर्णा की छवियां भी लोकप्रिय थीं, खासकर दुर्गा पूजा उत्सव के दौरान। कलाकारों ने सीता–राम, राधा–कृष्ण और हनुमान के शोषण जैसे–विषयों को भी चित्रित किया। बंगाली आचारों के प्रिय, एक अन्य विषय, चैतन्य महाप्रभु और उनके शिष्यों का था, लेकिन कालीघाट कलाकारों ने खुद को धार्मिक विषयों तक सीमित नहीं किया। विभिन्न व्यवसायो और परिधानों को दर्शाते हुए उनकी चित्र भी पर्यटकों के साथ लोकप्रिय थीं। अपराध जैसी समकालीन घटनाएं भी कई चित्रों का विषय थीं। कलाकारों ने धर्मनिरपेक्ष विषयो और व्यक्तित्त्वों को चित्रित करने का भी चयन किया और इस प्रक्रिया में स्वतंत्रता आंदोलन में एक भूमिका निभाई। उन्होंने टीपू सुल्तान और रानी लक्ष्मीबाई जैसे–वीर चरित्रों को चित्रित किया।

दैनिक जीवन कैप्चरिंग

कालीघाट कलाकारों की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि उन्होंने साधारण पेंटिंग और चित्र बनाये, जिन्हें आसानी से लिथोग्राफी द्वारा पुनः उत्पन्न किया जा सकता था। ऐसे प्रिंट तब हाथ से रंगे गए थे। यह प्रवृत्ति बीसवीं

शताब्दी के शुरुआती हिस्से तक जारी रही और ये चित्र संग्रहालयो और निजी संग्रहों में समाप्त हो गए। कालीघाट पेंटिंग्स का आकर्षण इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने दैनिक जीवन के सार पर कब्जा कर लिया और वे आधुनिक कलाकारों को देर से जामिनी रॉय जैसे–आज तक प्रभावित करते हैं।

कालीघाट–स्टाइल पेंटिंग्स या ड्रॉइंग पेपर पर बने थे और कलाकार जिन्होंने इन चित्रों को बनाने के लिए खुद को समर्पित किया था उन्हें "पटुआस" कहा जाता था (पारंपरिक बंगाल चित्रकार जो शहर से गांव तक यात्रा करते थे, उन्होंने पेपर के रोल के साथ यात्रा की थी और वे कहानी के रूप में प्रकट हुए थे, निवासियों के लिए गाया गया था)। पेंटिंग्स उन्नीसवी और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में प्रसिद्ध खलीगत मंदिर के आस–पास बेचे गए थे।

इस शैली का जन्म होने की तारीख बिल्कुल सही नहीं है, लेकिन कागज के इस्तेमाल के लिए और यूरोपियों द्वारा खरीदी गई पहली पेंटिंग के लिए, यह निष्कर्ष निकालना संभव है कि इसे 1930 के दशक में वर्तमान मंदिर के निर्माण के कुछ ही समय बाद शुरू करना था उन्नीसवीं सदी।

1880 और 18 90 के बीच, एडीस चित्र बहुत लोकप्रिय थे और संग्रहालयों में देखा जा सकता है, उनमें से अधिकतर इस समय के कम या कम हैं।

संग्रहालयों में उपस्थिति

संग्रहालय जिसमें इस प्रकार के चित्रों की सबसे बड़ी संख्या है, लंदन की विजय और अल्बर्ट संग्रहालय है, जो इन चित्रों की दुनिया में सबसे बड़ा संग्रह है, कुल 645 मूल।

इसके अलावा, ऑक्सफोर्ड के बोडलियन लाइब्रेरी में 110 है, गुरुसाडे संग्रहालय, कलकत्ता, 70, मॉस्को में पुष्किन संग्रहालय, 62 और फिलाडेल्फिया विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व और मानव विज्ञान संग्रहालय, 57 और आप अभी भी दुनिया भर में फैले अन्य संग्रहालयों को पा सकते हैं, जिनमें इन जल रंगों के छोटे संग्रह हैं।

कालीघाट चित्रकलाः पौराणिकता से समकालीनता का सफर

वर्षों तक अंग्रेजों के समय में कलकत्ता राजधानी होने की वजह से अविवादित रूप से इसे सांस्कृतिक राजधानी के रूप में जाना जाता रहा। लगभग

18वीं शताब्दी के अंत और 19वीं शताब्दी की शुरुआत में बंगाल के विख्यात कालीघाट मंदिर के आस-पास के क्षेत्र में कालीघाट चित्रकला परंपरा की शुरुआत पट्टुआ समुदाय के लोगों ने की, कला की इस विधा के पनपने का कारण आजीविका ही रहा होगा, क्योंकि मंदिर में दर्शन करने आये श्रद्धालु स्मृति के तौर पर काली मां की पेंटिंग खरीदते थे, यह आमतौर पर हाथ से बने कागज या कपड़े पर बनायी जाती थी।

पट्ट या कपड़े पर पेंटिंग बनाने की वजह से ही इन कलाकारों को पट्टुआ कहा जाता है। लंबे-लंबे पट्टों पर पौराणिक कथा चित्र के रूप में बनायी जाती और चित्रकार गांव-गांव घूमकर गाने के माध्यम से अपने चित्र की कथा सुनाते थे, समय बीतने के साथ चित्रकला बेचने का यह तरीका कलाकारों के लिए थकाऊ और मुश्किल भरा होने लगा और उन्होंने मंदिर के पास ही अपनी दुकानें खोल लीं।

बाद में भी जरूरत और मांग के हिसाब से इस कला ने कई परिवर्तन झेले. चित्रकारी के विषय अधिकतर धार्मिक और पौराणिक हुआ करते थे, जैसे—मां दुर्गा, शिव, विष्णु और उनके दस अवतार, रामायण और महाभारत के अनेक प्रसंग, परंतु, धीरे-धीरे बुद्धिजीवी वर्ग के प्रभाव में आने के बाद चित्रकला ने समकालीन कलेवर भी ओढ़ा।

पौराणिक घटनाओं के साथ-साथ रोजमर्रा की घटनाएं, विवादित, बहुचर्चित, चिंतनशील विषयों को भी कारीगर अपनी कला में उकेरने लगे, जैसे—कि किसी पेंटिंग में जमींदार बाबू तेल लगे सलीके से काढ़े बालों में हुक्का गुड़गुड़ाते दिखते, तो किसी अन्य चित्र में वेश्यालय में नृत्य-संगीत का आनंद लेते हुए दिखते, वर्ष 1873 के बहुचर्चित तारकेश्वर हत्या कांड को भी कालीघाट पेंटिंग में दर्शाया जा चुका है।

यह बड़ा ही रोचक पहलू है कला का, जो दर्शाता है कि किस तरह कलाकार की संवेदनशीलता और बेबाकी कला के माध्यम से मुखर हो उठती है।

इस हत्याकांड ने पूरे बंगाल में एक सनसनी पैदा कर दी थी, कहानी यूं है कि नबीनचंद्र बनर्जी की खूबसूरत पत्नी एलोकेशि का तारकेश्वर स्थित शिव मंदिर के महंत के साथ प्रेम हो गया, नबीनचंद्र को जब इस प्रसंग की भनक लगी, तो वे आग बबूला हो गये और मछली काटने वाले चाकू से अपनी पत्नी की हत्या कर दी, कोर्ट में केस चला।

उस समय कोर्ट की कार्यवाही देखने के लिए लोगों की भीड़ उमड़ती थी और जज ने फैसले में नबीनचंद्र को उम्रकैद और मंदिर के महंत को तीन साल की सजा सुनायी, इस चर्चित घटना से संबंधित अनेक चित्र बने, जैसे–एलोकेशि और महंत के मिलने का चित्र, एलोकेशि की नबीनचंद्र द्वारा हत्या का चित्र, तो कहीं क्षमा–याचना करती एलोकेशि का चित्र।

बदलते समय के साथ समकालीनता का जामा पहने यह चित्रकारी प्रसिद्ध होती गयी और फिर अचानक 1930 के बाद विलुप्त हो गयी, शायद अंग्रेजों का इस कला में कम होता शौक इसका कारण रहा होगा।

पट्टुआ समुदाय के कलम पट्टुआ ने इस कला को समसामयिक शक्ल के साथ पुनर्जीवित किया है। दिल्ली के क्राफ्ट्स म्यूजियम, प्रगति मैदान में इन्होंने मुलाकात के दौरान इस कला के अनेकों पक्षों को उजागर किया, उन्होंने बताया कि किस तरह के रंगों और तकनीक का इस्तेमाल वह अपने चित्रों को बनाने में करते हैं।

पेशे से कलम एक पोस्टमास्टर हैं। दिन ढलने के बाद दफ्तर से घर पहुंचकर सभी कामों से छुट्टी पाकर वे अपने ब्रश और कैनवस से अनेक रंग भरते हैं। यह उनका जुनून है, जो उन्हें इतनी हिम्मत और मेहनत की प्रेरणा देता है।

अपनी कला के रुझान के बारे में बताते हुए उन्होंने बताया कि उनके माता–पिता दोनों तरफ से उन्हें कला विरासत के रूप में मिली, उनके पहले गुरु उनके चाचा थे, तेरह वर्ष की आयु से इन्होंने चित्रकारी शुरू की, साल 1986 में कलकत्ता में एक चित्रकारी प्रतियोगिता में इन्होंने हिस्सा लिया, जिसमें इन्हें तीसरा स्थान मिला।

इस बात से वे निराश हुए, पर आयोजकों ने बताया कि उनका काम बहुत बढ़िया है और उसमें प्रख्यात कलाकार जैमिनि रॉय की झलक है। आयोजक उन्हें जैमिनि रॉय के घर लेकर गये और उनकी पेंटिंग दिखायी. इस घटना के उपरांत इनकी मां ने इनके मामा, गोपाल चित्रकार और बंकु चित्रकार से अपने बेटे को कला सिखाने की गुजारिश की, इनके दोनों मामा फकीर तबियत के थे और मिनटों में तस्वीर बना देते थे।

इस तरह अपनी लगन और मेहनत से कलम पट्टुआ आगे बढ़ते गये और साल 2004 में इन्होंने पहली चित्रकला प्रदर्शनी की, जिसमें इनकी सारी पेंटिंग बिक गयी, इससे इन्हें जोश मिला और विलुप्त हो रही कला नये रंगों और

आयामों में सजकर बाहर आने लगी, उनके चित्रों में- अमेरिका के ट्विन टॉवर हमले की खबर टीवी पर निर्लिप्त भाव से चाय पीते देखते दंपति, गोवा में सैलानियों की विभिन्न वेश-भूषाएं, नारी शक्ति, पोस्ट ऑफिस में रोमांस और ऐसे कितने ही हास्य व्यंग से भरे चित्र शामिल हैं।

चित्रों में भरे जानेवाले रंगों के बारे में बताते हुए उन्होंने बताया कि ये रंग भी खास होते हैं, जैसे–कि नीले रंग के लिए नील, काले के लिए दीये की कालिख, बेल के फल से निकला गोंद या फिर पत्थर का चूरा करके बनाये हुए रंग, हालांकि, आजकल बाजार में उपलब्ध वॉटर कलर भी इस्तेमाल किये जाते हैं। रंगों और पानी का सही अनुपात बहुत आवश्यक होता है। ब्रश के एक स्ट्रोक में पेंटिंग बनाना इस चित्रकला की खासियत है।

अरसे से एक सपना घुमड़ता था कि एल्बर्ट म्यूजियम में इस चित्रकला की प्रदर्शनी लगे और ऐसा हुआ भी, इसके बाद लिवरपूल, कनाडा, बेल्जियम, ऑस्ट्रेलिया, इन सभी जगहों पर इनकी चित्रकला की प्रदर्शनी हुई, बंगाल के कालीघाट मंदिर से निकलकर यह चित्रकला विश्वव्यापी हो गयी है।

उड़ीसा की तरह पूरे बंगाल में भी पट चित्रों की परंपरा देखी जाती है, किन्तु कतिपय राजनैतिक सामाजिक कारणों से यह परंपरा 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में कलकत्ता या कोलकाता आकर कालीघाट पट चित्रण के नाम से मशहूर हुई। माना जाता है कि इस दौर में ब्रिाटिश साम्राज्य के तहत कलकत्ता एक राजनैतिक व व्यापारिक केंन्द्र के तौर पर उभरकर सामने आ रहा था। भारतीय समाज में पैठ बनाने के मद्देनजर अंग्रेज भारतीय साहित्य, संगीत एवं कला में रूचि लेने के साथ साथ उसके संरक्षण को आगे आए। इस दौर में कलकत्ता के प्रसिद्ध कालीमंदिर के आस-पास बंगाल के लोककलाकारों ने आश्रय लेना शुरू कर दिया। विशेषकर 24 परगना और मिदनापुर के कलाकारों ने काली मंदिर के आस-पास अपनी दुकान लगानी शुरू कर दी, क्योंकि यहां उन्हें आसानी से उनकी कलाकृतियों के खरीदार मिलने लगे। विदित हो कि हमारे देश में परंपरागत रूप से कला राज्याश्रय या मठों मंदिरों के संरक्षण में सदियों से फलती फूलती रही थी। ऐसा माना जाता है कि अपने देश में कला के बाजार की शुरूआत इसी कालीघाट से ही हुई। परंपरागत पट चित्रों का आकार सामान्य तौर पर बड़ा होता था, क्योंकि इसमें अक्सर किसी घटना या चरित्र की पूरी गाथा चित्रित की जाती थी। इन पटचित्रों का सामान्य आकार 20 फीट तक होता था, इन बड़े आकार के चित्रों को रखना और सहेजना सहज नहीं

होता था। इन चित्रों को स्थानीय बोलचाल में पट कहा जाता था, वहीं इनके रचनाकारों को पटुआ कहा जाता था। कतिपय इन्हीं कारणों से खरीददारों की प्रथमिकता बदलने लगी। अपेक्षाकृत छोटे आकार के चित्रों की मांग बढ़ता देखकर इन कलाकारों ने कागज पर छोटे छोटे चित्र बनाने शुरू कर दिये। इन चित्रों में अमूमन एक दो आकृति हुआ करती थी और चित्रों की पृष्ठभूमि में अलंकरण या अनावश्यक विस्तार देने से बचा जाता था। इस तरह के चित्र कम समय में तैयार हो जाते थे, इसलिए ये चित्र अपेक्षाकृत सस्ते दामों पर खरीदार को मिल जाया करते थे।

कालीघाट पेंटिंग के कालखंड को कुछ इतिहासकार तीन हिस्सों में मानते है। पहला 1800 से 1850, जिसमें इस शैली ने अपनी पहचान गढ़ने की शुरूआत हुई। दूसरा 1850 से 1890, जिसमें यह कला अपने चरमोत्कर्ष पर मानी जाती है। जिसमें इस कला शैली का संयोजन और रंग सज्जा दोनों नजरिये से विकास होता गया, किन्तु 1900 से 1930 का समय वह दौर माना जाता है, जब छापाखानों के प्रसार ने इन चित्रों की सस्ती प्रतिलिपियां ग्राहकों को उपलब्ध करानी शुरू कर दी। यूं तो इस शैली के चित्र दुनिया भर के संग्रहालय की शोभा बढ़ा रहे हैं, किन्तु लंदन स्थित विक्टोरिया एंड अल्बर्ट म्यूजियम जहां लगभग 645 चित्रो और रेखांकनों का संग्रह है, इन चित्रों का सबसे बड़ा संग्राहक माना जाता है। इसके अलावा आक्सफोर्ड, प्राग, पेनसिलवानिया और मास्को के संग्रहालयों में भी इस शैली के चित्र संग्रहित हैं। अपने देश की बात की जाए तो कलकत्ता के विक्टोरिया मेमोरियल हाल, इंडियन म्यूजियम, बिड़ला एकेडमी ऑफ आर्ट एंड कल्चर व कला भवन, शांतिनिकेतन समेत अनेक स्थानों पर इस शैली के संग्रहित चित्रों को देखा जा सकता है। इन चित्रों में प्रयुक्त होने वाली सामग्री की बात करें तो इसमें भी परंपरागत रंगों का ही प्रयोग किया जाता था। मसलन पीला रंग के लिए हल्दी तो नीले रंग के लिए अपराजिता के फुलो और काले रंग के लिए दीये या ढिबरी से तैयार कालिख का। बाद के वर्षों में यहां भी बाजार में आसानी से उपलब्ध रासायनिक रंगों का प्रयोग किया जाने लगा।

इन चित्रों के विषयों की बात की जाए तो भारतीय पारंपरिक कला परंपरा में इस शैली में विषयों की जो व्यापकता है वह संभवत: किसी और लोक या परंपरागत कला शैली में आसानी से देखने को नहीं मिलती है। चुंकि इन चित्रों के खरीदारों में एक बड़ा वर्ग मंदिर आने वाले हिन्दु धर्मावलंबी होते थे, इसलिए देवी देवताओं विशेषकर काली और गौरी के विभिन्न रूपों का ज्यादा चित्रांकन

यहां पाया जाता है, किन्तु इनके अलावा कार्तिकेय, गणेश, सरस्वती के चित्रांकन के साथ-साथ विष्णु के अन्य अवतारों सहित परशुराम, कृष्ण की बाललीला व पुतना बध और कालिया मर्दन जैसे–प्रसंगों का अंकन भी इस शैली में किया गया। यहां तक कि इस्लाम और ईसाइयत जैसे–धार्मिक विषयों पर भी चित्रण की परंपरा यहां दिखती है। कर्बला के शहीद हुसैन के दुलदुल नामक घोड़े का चित्रण भी इस शैली में किया जाता रहा है। यहां तक कि दैनिक लोकजीवन व समसामयिक घटनाओं का भी चित्रण इस शैली में देखने को मिलता है। 1873 में घटित बंगाल का चर्चित तारकेश्वर हत्याकांड, जिसमें मंदिर के महंथ और एलोकेशी के बीच प्रेम संबंधों की जानकारी होने पर महिला के पति नवीन चंद्र द्वारा पत्नी की हत्या कर दी गई थी, इस घटना का भी विस्तार से चित्रण इस शैली में किया गया। विदित हो कि उस दौर में इस चित्रमाला या चित्रकथा की बाजार में काफी मांग थी। वर्ष 1890 के आस-पास सर्कस में बाघों से लड़ने का करतब दिखाने वाले श्यामकांत बनर्जी को भी इस चित्रमाला में जगह दी गई। यानि देखा जाए तो यह कला शैली अपने को बाजार के मांग के अनुकूल विषय-वस्तु को अपनाती रही।

7

भारतीय चित्रशैलियों की विशेषताएँ

भारत में प्राचीनकाल से लेकर अब तक चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ विकसित हुई हैं। कई शैलियाँ ऐसी हैं, जिनके अंदर विभिन्न उपशैलियाँ भी हैं। प्रथम दृष्टि में, एक देश में, एक कला की इतनी शैलियाँ-उपशैलियाँ होना आश्चर्यजनक लगता है, लेकिन विस्तृत भारतीय भू-भाग की सांस्कृतिक विविधता और ऐतिहासिक उथल-पुथल की जानकारी होने पर यह कतई आश्चर्यजनक नहीं लगता है। विभिन्न प्रांतीय संस्कृति पर विभिन्न कालखण्डों के प्रभाव के कारण शैलियों का विकास भी हुआ और वे लुप्त भी हुई। प्रत्येक शैली चाहे वह लोक हो या शास्त्रीय उसका व्यापक प्रभाव जनमानस पर पड़ा है। प्रत्येक शैली की अपनी विशेषता और सौंदर्य है, इसलिए किसी शैली के लुप्त होने के बाद भी उसका प्रभाव सहजता से समाप्त नहीं हो सका। भारतीय चित्रकला की शैलियों का वर्गीकरण बौद्धकाल से किया गया है, क्योंकि उससे पहले के चित्रों के समुचित साक्ष्य नहीं मिले हैं। जितने चित्र मिलें हैं, उनमें एक खास रुचि का निर्धारण संभव नहीं है। बौद्धकाल से लेकर वर्तमान समय तक जो प्रमुख शैलियाँ विकसित हुई हैं, वो हैं–

1. बौद्ध शैली
2. जैन शैली

3. गुर्जर शैली
4. अपभ्रंश शैली
5. बंगाल शैली
6. द्राविड़ शैली
7. राजपूत शैली
8. मुगल शैली
9. पहाड़ी शैली
10. आधुनिक युग
11. लोक शैलियाँ।

उपरोक्त शैलियों में से राजपूत शैली और पहाड़ी शैली की कई उप शैलियाँ हैं तो आधुनिक युग के अधिकांश चित्रकारों की निजी विशेषताएं एक अलग शैली का ही रूप धारण करती प्रतीत होती है। विभिन्न प्रान्तों में परंपरा से विकसित लोक शैलियों के भी अलग-अलग रूप हैं। प्रत्येक शैली की अलग-अलग विशेषताएँ हैं, जिनके कारण वह पहचानी जाती है और उस शैली में बने चित्रों को देखकर अलग-अलग सौंदर्यानुभूति होती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इन शैलियों की विशेषताएँ ही इनके द्वारा उद्‌भावित सौंदर्य के नियामक हैं। शैलियों की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

बौद्ध शैली

भगवान बुद्ध के अनुयायियों में सामान्य वर्ग के अतिरिक्त एक बहुत बड़ा वर्ग राजाओं, धनिको और व्यापारियों का था। उन लोगों ने भगवान बुद्ध के प्रति प्रेम और उनकी स्मृतियों को सुरक्षित रखने के लिए असंख्य विहारो और कलापूर्ण स्तूपों का निर्माण कराया। इससे वस्तुकाला और मूर्ति कला और बहुत विकसित हो गई। यह गुप्तकाल तक चलता रहा। फिर धीरे-धीरे मूर्तियों का स्थान भित्ति चित्रों ने ले लिया। इस तरह बौद्ध चित्रशैली की शुरुआत हुई, जो कालांतर में एशिया के सुदूर भागों तक फैल गई।

बौद्ध चित्रकला का साक्ष्य विभिन्न गुफाचित्रों में मिलता है, जिनमें से प्रमुख है अजंता की गुफाएँ। अजंता के अतिरिक्त अन्य गुफाएँ हैं, जोगीमारा, बाघ, बादामी और सितनवासल की गुफाएँ। इन गुफाओं के चित्रों को देखकर हम बौद्धशैली के उत्कृष्ट सौन्दर्य से परिचित होते हैं।

बौद्धशैली में बुद्ध के जीवन की विभिन्न परिघटनाओ और कथाओं पर आधारित चित्रों के साथ-साथ कुछ दूसरे प्रकार के चित्र भी बनाए जाते थे। इस आधार पर इस शैली के चित्रों के विषय को तीन भागों में बांटा गया है– आलंकारिक, रूपभैदिक और वर्णनात्मक। पहली श्रेणी के चित्रों में पशुओं-पक्षियों से युक्त पुष्प-लताएँ अलौकिक पशु, राक्षस, किन्नर, नाग, गरुड़, गंधर्व और अप्सरा आदि के चित्र हैं तो दूसरी श्रेणी के चित्रों में बुद्ध, लोकपाल, बोधिसत्व, राजा-रानियाँ, प्रेमी युगल आदि के चित्र माने जाते हैं तो तीसरी श्रेणी में भगवान बुद्ध के जीवन की कथाओं पर आधारित चित्र। अधिकांश चित्र इसी श्रेणी के हैं।

आलंकारिक चित्रों में सौंदर्य की सृष्टि के लिए विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक सम्पदा, पशु-पक्षियो और फल-फूलों को चित्रित किया गया है, जैसे-- नदियां, पहाड़, जंगलय पशुओं में, हाथी, बैल, लंगूर,बंदर का चित्रण ज्यादा हुआ है। पक्षियों में, मोर, तोता, हंस, कोयल, हारिल तो फलों में आम, अंजीर, अंगूर, सरीफा, नारियल और केला की प्राथमिकता है। फूलों में कमल का प्रयोग ही सर्वत्र हुआ है।

अजंता के चित्रों में भावप्रवणता की विशिष्ट योजना हुई है। करुणा, शांति, उल्लास, भक्ति, विनय और विकलता की स्पष्टता के कारण तथागत के सभी गुण यथा अहिंसा, मैत्री, करुणा, दया, आदि जीवंत हो उठा है। बुद्ध के अतिरिक्त अन्य पात्रो और वस्तुओं के चित्रों का भी भाव सौंदर्य अनुपम है। यह भावप्रवणता अजंता के चित्रों की आत्मा मानी जाती है।

अजंता के चित्रों में गाँव का शांतिपूर्ण वातावरण से लेकर शहरों का कोलाहलय राजा से लेकर रंक तक को इस प्रकार चित्रित किया गया है कि आँखों के सामने गुप्तयुगीन संस्कृति कि सौम्यता और सार्वभौमिकता स्पष्ट हो उठती है।

अभिनय-मुद्राओ और प्रांजल हस्त-मुद्राओं का प्रदर्शन अजंता के चित्रों की एक अन्य विशेषता है। इन मुद्राओं के साथ मुख की भंगिमा और का नेत्रों लास्य भी अपूर्व है। इनके साथ गति, स्थिरता, लय सभी मिलकर चित्रों को विशिष्ट बनाते हैं। चित्रों में मुद्राओं का आधार पूरी तरह से शास्त्रीय है।

अजंता के चित्रों में नारी को सर्वथा आदर्श रूप में अभिव्यंजित किया गया है। चित्रों की ये नारी-आकृतियाँ कला की अधिष्ठात्री देवियाँ दिखाई पड़ती है। ऐसी आकृतियो में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों अभिरूचियों का संगम है। ये

नारी भारतीय मर्यादा तथा गरिमा के अनुरूप और चित्रों के अपार सौंदर्य का महत्त्वपूर्ण कारण हैं।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त चित्रों के अद्वितीय सौंदर्य का कारण उसकी चित्रण तकनीक की विशेषता भी है। चित्रों में रेखाओं की शूक्ष्मता और प्रवाहमानता दिखाई पड़ती है। उनमें कहीं भी उलझाव,भारीपन या संकोच नहीं दिखाई पड़ता है। गेरू की वर्तिका से रेखांकन करके रंग भरा गया है। रेखाओं के सौष्ठव से चित्र विशिष्ट उभाड़ पाए हैं।

चित्रों में रेखाओं के साथ ही रंगों की योजना भी अत्युत्तम हैं। बहुत ही निपुणता से गेरुआ, हरा, रामरज, कजली, नीला, पीला, काला और सफेद रंगों का प्रयोग किया गया है। वर्ण-योजन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे गहरे होकर भी भारीपन से मुक्त हैं। जिन पत्थरों पर चित्रकारी की गई है, उसके खुरदरे सतह को विशेष प्रकार के शुभ्र लेपन द्वारा तैयार किया गया है।

बौद्ध शैली खासकर अजंता के चित्रों में जब कई चरित्रों के समूह को चित्रित किया गया है तो चित्रकार ने प्रमुख या महत्त्वपूर्ण पात्र को दिखने के लिए उसे समूह के अन्य पात्र से विशाल चित्रित किया है। इसलिए अधिकांश चित्रों में बुद्ध का चित्र बहुत विशाल है। चित्रण की यह तकनीक भी चित्रों के प्रभावशाली होने के कारक हैं।

जैन शैली

भारतीय चित्रकला में जैन शैली अपने युग की बहुत ही विख्यात शैली रही है। भारत के विभिन्न अंचलों जैसे–माड़वाड़, अहमदाबाद, मालवा, जौनपुर, अवध, पंजाब, बंगाल और उड़ीसा के क्षेत्रों के अतिरिक्त विदेशों में जैसे–नेपाल, बर्मा, स्याम आदि जगहों पर इस शैली के अस्तित्त्व का विस्तार हुआ।

जैन शैली के चित्र कपड़े, ताड़पत्र और कागज पर बनाए गए हैं। जैन शैली के चित्रों में ताड़पत्र पर बने चित्रों का बड़ा महत्त्व है। कागज पर चित्र बनाने के लिए भी उसे पहले ताड़पत्र के आकार में काटा जाता था फिर उस पर सुंदर चित्रण और लेखन किया जाता था। ऐसे चित्र पोथियों में बनाए जाते थे। ताड़पत्र और कागज पर बने चित्रों में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ते हैं। ताड़पत्र पर स्थानाभाव के कारण रेखाओं में जो तीक्ष्णता है वह कागज पर के चित्रों में थोड़ा शिथिल और मंद पड़ गया है। ऐसा शायद अधिक स्थान की उपलब्धता के कारण हुआ

है, जैन शैली के चित्रकारों ने चित्रकला में कई नई विधाओं का संयोग किया, जिसके चलते इसकी अलग ही विशेषता दिखाई पड़ती है।

जैन शैली में नेत्रों का विशिष्ट चित्रण किया गया है। यह विशेषता जैन स्थापत्य से आया हुआ लगता है। चित्रों में नेत्र उठे हुए और कानों तक खींचे हुए हैं। भौहों का फैलाव आँखों के समान ही है। आँखों के ऐसे चित्रण के चलते जैन शैली के चित्र दूर से ही पहचाने जाते हैं।

नेत्रों के अतिरिक्त सेब की तरह बाहर की ओर उभड़ी हुई ठोड़ी और उसे गर्वीला बनाने के लिए रेखाओं का संयोजनय तोते की चोंच की तरह अनुपात से अधिक लंबी नासिका आदि भी चित्रों को विशेष बनाते हैं।

रंगों की दृष्टि से भी जैन शैली के चित्रों की अपनी विशेषता है। चित्रों की पृष्ठभूमि में ज़्यादातर लाल रंग का प्रयोग किया गया है, लेकिन आवश्यकतानुसार, बदली, श्वेत, पीत और नीले रंगों का भी प्रयोग किया गया है। ताड़पत्र पर अंकित चित्रों में पीले रंगों का प्रयोग ज्यादा दिखता है। इसके लिए स्वर्णराग का भी प्रयोग किया गया है। कुछ चित्रों की पृष्ठभूमि में लाल और पीले रंगों के मिश्रण का भी प्रयोग किया गया है। वस्त्रों पर बने चित्रों में रगों का प्रयोग करते हुए छोटे-छोटे धब्बे अंकित किए गए हैं।

सोने और चाँदी की स्याही से बहुमूल्य चित्रों का निर्माण भी जैन शैली की विशेषता मानी जाती है, जैन शैली के चित्रों में हाशिये की खूबसूरती और उसकी सजावट अद्वितीय है। मुगल शैली के चित्रों के हाशिये पर जैन शैली के हाशिये का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जैन शैली के चित्रों में धार्मिक संकेतों यथा छत्र, कमल, स्वास्तिक आदि का सुंदर चित्रण भी उसके सौंदर्य में चार चाँद लगा देते हैं।

जैन शैली के चित्र धार्मिक है इसलिए तीर्थंकरों के अतिरिक्त देवीयों आदि के बहुत सौम्य भंगिमाओं का चित्रण हुआ है, जो आकर्षक तो लगता है, लेकिन उसमें कलात्मक उत्कृष्टता नहीं है। चित्रों में चरित्रों का उज्ज्वल-धूम वर्ण लोकशैली की अल्हड़ता, वस्त्रसज्जा और हस्तमुद्राएं सभी में कलात्मक माधुर्य दिखाई पड़ती है।

वस्त्रसज्जा और आभूषणों का चित्रण भी बहुत सुंदर हुआ है। धोतियों का, स्वर्णकलम से उभाड़े गए बेल-बूटे, दुपट्टे, मुकुटों-मालाओं आदि का सौंदर्य देखने लायक है।

जैन शैली के चित्रों में सच्चे अर्थों में लोककला अभिव्यक्त हुई है। रेखाओ और रंगों के संयोजन से लेकर साज-सज्जा सब में लोकाकला का मोहक रूप दिखाई पड़ता है।

गुर्जर शैली

इस शैली के विषय में समीक्षकों की राय एक जैसी नहीं है। कुछ लोग इसे अपभ्रंश शैली के अंतर्गत मानते हैं तो कुछ लोग जैन शैली के अंतर्गत, लेकिन कुछ लोग इसकी अपनी विशेषता के कारण 'पश्चिम भारतीय शैली' कहते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शैली के चित्रों की बहुत अधिक समानता अपभ्रंश शैली और जैन शैली के चित्रों से है, लेकिन इसकी अपनी भी खासियत है। अपनी खासियत की वजह से ही इसे अब 'गुर्जर शैली' कहा जाता है। इसका विकास पश्चिम भारत में ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। इस शैली का आरंभ लघु चित्रों से हुआ है। अधिकांश चित्र पुस्तकों में दृष्टांत स्वरूप ही बने हैं। जैसे–'कल्प सूत्रम', 'वसंत विलास', 'चौर पंचासिका', 'गीत गोविंद', 'दुर्गा शप्तशती' आदि। इस शैली के चित्रों में भी कानों तक विस्फारित आँखे और नुकीली नाक बनाए गए हैं। इसके अतिरिक्त सुवर्णाक्षरी चित्रण भी बेहद सुंदर व महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। वास्तव में, भित्तिचित्र और राजपूत और मुगल शैली के बीच के चित्रों का इतिहास इन्हीं चित्रों के द्वारा बना है। इस शैली का प्रयाप्त प्रभाव उक्त दोनों शैलियों पर पड़ा है।

अपभ्रंश शैली

भित्तिचित्र और राजपूत शैली के बीच के कालखंड में गुजरात के अतिरिक्त देश के अन्य भाग यथा माड़वाड़, मालवा, उत्तरप्रदेश के क्षेत्र, बंगाल, उड़ीसा आदि से बड़ी संख्या में चित्र मिले। ऐसे चित्रों की शैली के लिए 'अपभ्रंश शैली' संज्ञा दी गई, क्योंकि इन चित्रों में कोई नवीनता नहीं, बल्कि प्राचीन शैली की ही थोड़ी बहुत विकृति दिखाई पड़ती है। इस शैली कि विशेषताएँ है–परवल के आकार कि आँखें, स्त्रियों की आँखों में कान तक गई काजल कि रेखाय नुकीली नाक, दोहरी ठुड्डी, मुड़े हुए हाथ और ऐंठी हुई अंगुलियाँ अप्राकृतिक रूप से उभड़ी हुई छातीय खिलौने की तरह पशु-पक्षियों का अंकनय प्राकृतिक दृश्यों की कमीय एक ही धरातल पर कई दृश्यों का अंकनय बाद के चित्रों में हाथियों का अलंकरणय चटखदार रंगों और सोने का अत्यधिक प्रयोग।

बंगाल की शैली

बंगाल में आधुनिक काल से पहले मूलत: दो शैली मानी जाती है। पहली 'पाल शैली' और दूसरी 'गौड़ शैली'। पाल शैली के विषय में तिब्बती इतिहासकार 'लामा तारानाथ' का कहना है कि यह 9वीं शताब्दी में देश के पश्चिमी शैली से भिन्न स्वरूप में बंगाल में उदित हुई। बंगाल के पाल राजाओं से संरक्षण प्राप्त होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। इसका प्रसार 10वीं से लेकर 13वीं शती तक बंगाल के साथ-साथ बिहार में भी रहा। इस शैली में भी अधिकांश दृष्टांत चित्र ही बने। इस शैली में बौद्ध जातक-कथाओं का चित्रण बहुतायत से हुआ है। इस शैली की विशेषताएँ हैं—सुंदर लिपि, तराशे हुए अक्षर और चमकीली स्याही का प्रयोग।

'गौड़ शैली' के चित्र 18वी और 19वीं शती के मध्य बने हैं। इस शैली में मूलत: पटचित्र बने हैं, जिसके विषय रामायण, महाभारत, भागवत आदि के मिथक कथाएँ हैं। इस शैली के चित्रों में न तो पूर्व प्रचलित शैलीओं की विशेषताएँ है और न ही काल्पनिक अभिव्यंजना। वस्तुत: इसके द्वारा बंगला लोक शैली का प्रचार-प्रसार ही हुआ।

द्राविड़ शैली

यह शैली दक्षिण भारत में विकसित हुई। इसे दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला भाग पल्लव और चोल राजाओं के समय मे और दूसरा भाग बहमनी सुल्तानों के समय में। दोनों भागों की अपनी विशेषताएँ और सौंदर्य है।

प्रथम भाग के चित्र गुफाचित्रो और दक्षिण भारत के प्रसिद्ध मंदिरों की कलाकृतियों से प्रभावित हैं। इन चित्रों की रेखाओं में नुकीलापन और तरलताय आकृतिओं में विशेष लोच और गतिय रंगों से पोल दिखाया जाना विशेष रूप से दर्शनीय हैं। वस्त्र, मुकुट और गहने का चित्रण विजयनगर के आरंभिक युग के डिजायनों से मेल खाते हैं।

दूसरे भाग के चित्रों में फारसी प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस समय के चित्रों में ज्यादातर के विषय तंत्र-मंत्र, ज्योतिष, शस्त्रविद्या, हस्तिशास्त्र आदि से लिए गए हैं। मनुष्यों के साथ पशु-पक्षियो और रागमाला के चित्र भी बनाए गए हैं। चित्रों में बहुत ही भव्यता है।

राजपूत शैली

राजपूत शैली के चित्रों का निर्माण 14वीं शती से शुरू होकर 19वीं शती तक होता रहा। इस बीच भारतीय इतिहास की तरह ही यह शैली भी उथल-पुथल के दौर से गुजराती रही। इसकी कई उप शैलियाँ हैं–

1. मेवाड़ शैली
2. जयपुर शैली
3. बीकानेर शैली
4. मालवा शैली
5. किशनगढ़ शैली
6. कोटा-बूंदी शैली

थोड़े-बहुत स्थानीय प्रभाव के कारण ही ये उपशैलियाँ विकसित हुई हैं अन्यथा इनकी आत्मा एक ही है। इस शैली के सौंदर्य की अपनी विशेषता विशेषताएँ हैं। प्रारम्भ में इस शैली के चित्र विशुद्ध भारतीय थे। बाद में इन पर मुगल शैली का प्रभाव पड़ा।

राजपूत शैली के चित्रों में, लाल-हिंगुली रंग के हाशिये, बेल-बूटों की सजावट, सोने की आसाफाँ से युक्त उनकी सुनहरी खत, कमलों से भरे सरोवर, मेघ भरे आकाश में चमकीली सर्पाकार विद्युत रेखाएँ, पक्षियों से भरे निकुंज, मृग तथा मयूर, दीपमालाएँ, दास-दासियाँ, अलंकृत प्राचीरों से युक्त राजभवन की शोभा, स्त्रियों के विशाल नेत्र, पुरुषों के उन्नत ललाट और आजानुबाहुए स्त्रियों के नितंब तक पहुंची केशराशि, पुरुषों के कानों तक पहुंची गुच्छेदार मूँछे और आभूषणों में मोतियों का सुंदर अंकन विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

इस शैली के चित्रकारों ने शास्त्रीय निर्देशों के अनुसार नायिकाओं के विभिन्न रूपों को बहुत ही निपुणता से चित्रित किया है। विभिन्न भावों के प्रदर्शित करती हुई नायिकाओं की आँखे और सुगठित मुखाकृति, यौवन की खुमारी से मदहोश अंग-प्रत्यंग, कुँवारे वक्षस्थल पर झूलते आभूषण, आलता-रंजित हाथ-पैरों की शोभा आदि मिलकर मतिराम, केशव, देव, बिहारी और पद्माकर प्रभृति रीति कालीन कवियों की शृंगार कल्पनाओं को बेहद प्रभावशाली ढंग से दिखाती है, जिसे देखकर प्रेक्षक सहज ही मुग्ध हो जाता है। सिर्फ शृंगारिक ही नहीं, बल्कि जौहर की वेदी पर आत्मबलिदान का कठोर संकल्प लिए नारी की गरिमामय छवि को भी कलाकारों ने बेहद प्रभावशाली ढंग से दिखाया है।

इसके अतिरिक्त राग-रागनी, ऋतुवर्णन, बरहमसा, 'रामायण' और 'महाभारत' के आख्यानों, सूर की कविताओं के बाल्य, युवा और भक्ति भाव को भी कलाकारों ने बहुत सुंदर ढंग से चित्रित किया है।

राजपूत शैली के चित्र आज भी कलाकारों के प्रेरणास्रोत हैं क्योंकि उसके प्रत्येक अवयव से सौंदर्य प्रतिस्फुटित होता है। प्रभावशाली रंगों और रेखाओं का सहज प्रवाह कलाकारों का अभ्यास और अध्यवसाय की गंभीरता को बताता है।

मुगल शैली

भारत में मुगलों की सत्ता स्थापित हो जाने पर भारतीय और ईरानी शैली के मिश्रण से सर्वथा नवीन शैली के रूप में मुगल शैली का जन्म हुआ। बाबर से लेकर शाहजहाँ तक फली-फूली यह शैली विश्व के महानतम शैलियों में शामिल है। राजपूत शैली से अलग यह शैली यथार्थवादी है, जिसमें राजसी दृश्यों जैसे–राजउद्यान,राजपरिवार, दरबार और युद्धों का ही ज्यादा चित्रण हुआ है। इस शैली के चित्र भी पोथियों पर बनाए गए, लेकिन बाद में व्यक्तिचित्र और लघु चित्रों की अधिकता हो गई। लगभग सभी शहंशाहों ने अपने पूर्वजों के पोर्ट्रेट बनवाए।

इस शैली में ईरानी चित्रकला की सभी विशेषताएँ, रंग-रेखाओं का संयोजन, सुंदर सुलेखन आदि के साथ ही राजपूत शैलियों की कई विशेषताएँ जैसे–भावों का निरूपण आदि दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में चित्रों की बाहरी साज-सज्जा में ईरानी तो आंतरिक सज्जा राजपूत शैली के प्रभाव से की गई है। इस शैली के चित्रों में प्रकाश और छाया का अंकन हुआ है। यहीं से यह विशेषता राजपूत शैली में पहुँची। अपनी-अपनी विशेषताओं से राजपूत शैली और मुगल शैली ने एक-दूसरे को बहुत ज्यादा प्रभावित किया है।

मुगल शैली के चित्रों में आभूषणो और पोशाकों का बहुत बारीक और सुंदर चित्रण हुआ है। बेगमों की भड़कीली और झीने पोशाकों के भीतर से दिखता शारीरिक उभारों का चित्रण, चित्रों में विलासप्रियता के महत्त्व को रेखांकित करता है।

मुगलकला जहांगीर के समय में चरमोत्कर्ष पर थी, लेकिन शाहजहाँ के काल में आकर इसकी उत्कृष्ठता घटने लगी। तब यह शैली थोड़ी परिवर्तित हो गई। इसमें रंगों की तड़क-भड़क, हस्तमुद्राओं का आकर्षण, अंग-प्रत्यंगों का

अवास्तविक उभाड़, हूकूमत का दबदबा अधिक दिखाई पड़ने लगा। ऐसे चित्रों में रियाज की कमी और बारीकी का आभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

पहाड़ी शैली

मुगल शैली के अवसान काल में जन्मी पहाड़ी शैली का स्वरूप मुगल और राजपूत दोनों शैलियों के साथ स्थानीय शैलियों के मिश्रण से बना। राजपूत शैली की भांति इस शैली में भी पौराणिक आख्यानों, नायिका भेदो और रागमला के चित्र बनाए गए हैं तो मुगल शैली की भांति व्यक्ति चित्र भी बने हैं। इस शैली की प्रमुख उपशैलियाँ है–

1. कांगड़ा–गुलेर शैली
2. बसौली शैली
3. गढ़वाल शैली

पहाड़ी शैलियाँ सौंदर्य के दृष्टि से अद्वितीय हैं। इसके चित्रों में रेखाओं के संयोजन अनुपम हैं, जो सहज ही प्रेक्षक के मन में अपना प्रभाव अंकित कर जाते हैं। यही बात तूलिका में भी दिखाई पड़ती है। स्त्रियो और पुरुषों के आँखों की भावप्रवणता और मुख का लावण्य अनुपम है।

कांगड़ा शैली में में स्त्रियों के मर्यादित रूप पर विशेष ध्यान दिया गया है। चाँद सी गोल मुखाकृति, धनुषाकार आँखें, उँगलियों में लय तथा नजाकत, भरे अंग–प्रत्यंग, सुंदर और ऊंचे कुल का परिचायक वस्त्र–योजना, रहस्य को छुपानेवाले मुख का भाव किसी दूसरी शैली में विरले ही दिखाई पड़ते हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण कला समीक्षक जे.सी. फ्रेंक ने इस शैली के चित्रों से शालीनता और संयम टपकने की बात कही है। वे कहते हैं, 'इन्हें देखकर लगता है कि जादू के संसार में जा पहुँचे।'

बसौली शैली का रंग–विधान अपने ढंग का है। झीने वस्त्रों से झाँकते अंगों को दिखाने का उद्योग तो सभी चित्रकारों ने किया है, लेकिन बसौली शैली के चित्रकारों ने उसपर विशेष ध्यान दिया है। उन चित्रकारों द्वारा गहरे पीले, हल्का हरा और चोकलेटी रंग से पृष्ठभूमि का निर्माण मनोहर है। इस शैली में नाक, मुंह कान, कपोल, ललाट और शरीर–गठन का समुचित अंकन हुआ है।

प्रकृतिक सौंदर्य से परिपूर्ण क्षेत्र में विकसित होने के कारण सभी पहाड़ी उपशैलियों में प्राकृतिक सुषमा का अपूर्व चित्रण हुआ है। चित्रों में गिरि–निर्झर, रंग–बिरंगे पुष्प, पक्षियों से गुंजायमान घाटियाँ, धरा–आकाश को मिलने वाली

मेघ-मालाएँ, उड़ती हुई बकुल पंक्तियाँ, शुक-सारस हाथी-शेर सभी का सौंदर्य जादुई प्रभाव डालने वाला है।

आधुनिक युग

भारतीय चित्रकला में उन्नीसवीं शती की शुरुआत के साथ ही आधुनिक युग की शुरुआत मानी जाती है। आधुनिक युग की चित्रकला को किसी एक शैली के तहत समझना संभव नहीं हैं, क्योंकि आधुनिक युग में वैचारिक स्वतन्त्रता, यूरोपीय प्रभाव, विभिन्न वादों का प्रभाव, रूढ़ प्रतीकों की उपेक्षा आदि के चलते सभी महत्त्वपूर्ण कलाकारों की अलग ही निजी शैली विकसित हुई लगती है। इसलिए केवल आधुनिक युग की चित्रकला का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन एक वृहत प्रबंध की अपेक्षा रखता है। फिर भी इस युग की शुरुआत से लेकर वर्तमान समय तक चित्रकारों की कृतियों को देखकर उन्हें मोटे तौर पर चार वर्गों में में बांटा जाता है और उसी के आधार पर चित्रों के सौंदर्य के प्रति एक सामान्य धारणा बनाई जा सकती है।

आधुनिक युग के प्रारम्भिक चित्रकारों में 'अलग्री नायडू' और राजा रवि वर्मा जैसे–कलाकारों के बाद पहले वर्ग में आते हैं, टैगोर बंधुओं द्वारा जन्म दिया गया 'बंगला स्कूल' के कलाकार। दूसरे वर्ग में आते हैं, बंगला स्कूल की परंपरा को नहीं अपनाने वाले कलाकार। तीसरे वर्ग में आते हैं, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जन्मी कला प्रवृत्तियों के कलाकार। चौथे वर्ग में आते हैं, अरूपवादी शैली से लेकर समसामयिक कलाकार।

बंगला स्कूल की कला पर यूरोपीय प्रभाव बहुत ज्यादा है। दूसरे वर्ग के कलाकारों नें अपनी कला में पाश्चात्य कला-मानों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति को समन्वित करने पर बल दिया है। तीसरे वर्ग के कलाकारों की कलाओं में राष्ट्रीय भावना पर बहुत ज्यादा बल दिया गया है। चौथे वर्ग के कलाकार अपनी वैचारिक स्वतन्त्रता के सहारे निजी भावनाओं को ही ज्यादा अभिव्यक्त किया है।

आधुनिक काल की चित्रकला एक ओर अजंता और मध्यकालीन प्रवृत्तियों से जुड़ती दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर फ्रांस के प्रतीकवाद और रूप निरपेक्षता से। कोई कलाकार रंगों के संयोजन और तड़क-भड़क को महत्त्व देता है तो कोई प्रभावशाली रेखाओ और सादगी को।

लोक शैलियाँ

भारत में मुख्यधारा का समाज और आदिवासी समाज दोनों चित्रकला के मायने में बहुत समृद्ध हैं इसलिए यहाँ इसकी कई लोक शैलियाँ भी हैं। जैसे–मिथिला की चित्रकला, बंगाल का अल्पना, उड़ीसा का पत्ता चित्र' दक्षिण की कालमेजुथु, आदिवासी समाज की सोहराई, गोंड चित्रकला, वर्ली चित्रकला आदि। अधिकांश शैलियाँ आनुष्ठानिक महत्त्व की हैं, जो वर्तमान में सामान्य सरोकारों से जुडने लगी हैं। इन शैलियों के चित्रों के पारंपरिक विषय मिथकीय होते हैं, जिनमें देवता, मनुष्य, दैत्य, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी से लेकर कीड़े-मकोड़े तक के चित्र बनाए जाते हैं। हरेक शैली में इनका अंकन संबन्धित क्षेत्र और मान्यताओं के अनुसार होता है।

सभी लोक शैलियों में रेखाओं के सौष्ठव और आकृतियों की सुघड़ता से ज्यादा विषय और भावनाओं के अंकन पर ही बल दिया जाता है। इसके लिए चटख रंगों का सहारा लिया जाता है। सिर्फ वर्ली चित्रकला में ज्यामितिक रेखाओं से बनी आकृतियाँ और सादे रंगों के माध्यम से चित्र बनाए जाते हैं। कुछ शैलियों में बहुत कम सुघड़ता होती है तो कुछ शैलियाँ जैसे–पटचित्र, अपनी सुघड़ता के चलते शास्त्रीय शैलियों के बेहद करीब दिखाई पड़ती है।

8

भारतीय चित्रशालाएँ

भारतीय पुराणों में प्राय: चित्रशाला तथा विश्वकर्मामंदिर का वर्णन मिलता है। ये संभवत: मनोविनोद तथा शिक्षा के केंद्र थे। पुराणों में चित्रकला में अभिरुचि के साथ चित्रसंग्रह और चित्रशाला के अनेक संकेत मिलते हैं। इससे लगता है कि भारत में अति प्राचीन काल से ही चित्रशालाएँ थीं। वैसे भी इस देश में मंदिरों में चित्रकला तथा मूर्तिकला को आदिकाल से प्रमुखता मिलती आई है, जो आज भी वर्तमान है। अजंता का कलामंडप इसका अद्‌भुत प्रमाण है। यह करीब दो हजार वर्ष पुरानी, संसार की अप्रतिम चित्रशाला है। प्राचीन कल के सभी मंदिर मूर्तिकला से परिपूर्ण है और कहीं-कहीं अब भी उनमें चित्रकला वर्तमान है।

मध्यकालीन मंदिरों में तो चित्रकला तथा मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। इस काल में राजा महाराजा, बादशाहों, नवाबों के महलों में भी चित्रशालाएँ बनने लग गई थीं। आधुनिक अर्थों में भारत में सर्वप्रथम संग्रहालय तथा चित्रशाला एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल के प्रयास से 1814 में स्थापित हुई, जिसे हम आज भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता (इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता) के नाम से जानते है और यह एशिया के सबसे समृद्ध संग्रहालयों में गिना जाता है।

मंदिरों की चित्रशालाएँ अधिकतर दक्षिणा भारत में हैं। इस प्रकर की चित्रशालाओं में तंजोर में राजराज संग्रहालय प्रसिद्ध है। अब उसे पुनर्गठित किया

गया है। सरस्वती महल में चित्रशाला स्थापित है। सीतारंगम मंदिर, मीनाक्षी सुंदरेश्वरी का मंदिर तथा मदुराई का मंदिर भी उल्लेखनीय है। सीतारंगम मंदिर में मूर्तिकला के अद्‌भुत नमूने हैं मीनाक्षी में हाथीदाँत की कला अद्‌भुत है। वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपत में भी कलात्मक कृतियों का अच्छा संग्रह हैं।

इस समय भारत में सैकड़ों संग्रहालय है और कइयों में चित्रों का भी अच्छा संग्रह हैं पर सुनियोजित चित्रशालाएँ बहुत नहीं हैं। अधिकतर संग्रहालयों में राजस्थानी, मुगल, पहाड़ी, दक्खिनी, नेपाल तथा तिब्बती शैली के चित्र हैं। कुछेक में आधुनिक यूरोपीय चित्र भी हैं पर ऐसी चित्रशालाएँ, जहाँ आदि से अंत तक चित्रकला का इतिहास तथा प्रगति समझने में मदद मिले, कतिपय ही हैं। बंबई के प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय में पूर्वी तथा पश्चिमी सिद्धहस्त चित्रहारों की कृतियों के साथ साथ मध्यकालीन तथा आधुनिक चित्रकला के विभिन्न पक्षों के चित्र हैं तथा अजंता की बड़ी बड़ी अनुकृतियाँ भी हैं।

मैसूर की चित्रशाला में अधिकतर भारतीय आधुनिक शैली के चित्र है। ग्वालियर संग्रहालय में अजंता तथा बाघ के चित्रों की अनुकृतियों का अच्छा संग्रह है। इसी प्रकार हैदराबाद की चित्रशाला में भी अंजता तथा एलोरा की कलाकृतियों की सुंदर अनुकृतियाँ रखी गई हैं। इसमें यूरोपीय कला का भी सुंदर संग्रह है।

अभी हाल में मद्रास संग्रहालय में भी चित्रशाला संयोजित हुई है। यहाँ दक्षिण भारत की चित्रकला संग्रहीत है। वैसे यहां प्राचीन तथा मध्यकालीन चित्र भी हैं।

नई दिल्ली में एक बड़ी ही सुव्यवस्थित चित्रशाला नेशनल गैलरी ऑव माडर्न आर्ट है। इसमें अधिकतर शैली के भारतीय चित्र हैं। इसमें मुगल तथा राजस्थानी चित्र भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

भारतीय संग्रहालय

कलकत्ते का भारतीय संग्रहालय (इंडियन म्यूजियम) अत्यंत प्रसिद्ध है। यह संग्रहालय एशियाटिक सोसाइटी के प्रयास से सन् 1814 में स्थापित हुआ था। 1839 में सरकार की ओर से इसे अनुदान मिलने लगा और इसका विस्तार हुआ। 1875 में भारतीय संग्रहालय का अपना भवन कलकत्ते में बना। 1883 में इसमें चित्रशाला की भी स्थापना की गई। 1904 में संग्रहालय का भवन और विस्तृत किया गया तथा चौरंगी रोड पर लार्ड कर्जन की सरकार की मदद से

कलाकक्ष का निर्माण हुआ। कलाकक्ष दो चित्रशालाओं में बँटा हुआ है। एक में कलात्मक सामग्रियाँ हैं दूसरे में चित्र तथा मूर्तियाँ। मूर्तिकला की दृष्टि से यह संग्रहालय बहुत समृद्ध और दर्शनीय भी।

विक्टोरिया स्मारक

चित्रशाला की दृष्टि से कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल हाल बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह लार्ड कर्जन के प्रयास से 1906 में बना था। इसकी चित्रशाला में पाश्चात्य प्रसिद्ध कलाकारों के बहुत से महत्त्वपूर्ण चित्र हैं। चित्रशाला में ब्रिटिश काल के सम्राटों, शाही परिवारों तथा विक्टोरिया, प्रिंस ऑव वेल्स, लार्ड क्लाइव इत्यादि और राजा महराजा तथा अमीर उमरावों के चित्रों के अलावा 1857 के राजनीतिक उथल पुथल पर आधारित चित्र भी हैं। इसके अतिरिक्त इसमें वारेन हेस्टिंग्ज के काल के भी चित्र हैं।

आशुतोष संग्रहालय

आशुतोष संग्रहालय में अजंता, बाघ, पोलन्नारुआ, सितनवासल तिरुर्दडिकराई इत्यादि की अनुकृतियाँ तथा नेपाली चित्र भी हैं। इनके अतिरिक्त जैन, गुजराती, मुगल, राजस्थानी, काँगड़ा, दक्खिनी तथा पटना शैली के चित्र, तिब्बती तथा चीनी चित्र, बंगाल की लोककला तथा आधुनिक चित्र भी हैं।

कलकत्ता का एशियाटिक सोसाइटी का संग्रहालय

कलकत्ता के एशियाटिक सोसाइटी का संग्रहालय (1874)–पूर्वी देशों में सबसे पुराना और समृद्ध है। कलकत्ते का इंडियन म्यूजियम भी इसी की सामग्रियों से बना है। चित्रशाला भी अनुपम है। यूरोपीय कला के संग्रह की दृष्टि से यह भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण संग्रहालय है। इसमें रूबेंस, गूडो, रेने, डोमेनिशीनो रेलाल्डस, गानालेट्टी, कैटले, शिनरे, पो, डेनियल, से इत्यादि कई प्रसिद्ध यूरोपीय कलाकारों के तैलचित्र हैं। इसमें राबर्ट होम द्वारा प्रस्तुत अनुकृतियाँ तथा रेखाचित्र भी हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से अच्छे व्यक्तिचित्र भी हैं।

नेशनल गैलरी ऑव् माडर्न आर्ट

भारत की राजधानी दिल्ली में आधुनिक चिकित्सा की राष्ट्रीय चित्रशाला स्वतंत्रता के बाद 1954 में स्थापित हुई, जिसमें एक ही स्थान पर सारे भारतवर्ष

के प्रसिद्ध आधुनिक कलाकारों के चित्र तथा मूर्तिकला के नमूने रखे गए हैं। जयपुर हाउस के विशाल कक्ष में अत्याधुनिक ढंग से यह सुसज्जित की गई है। सन् 1857 से लेकर अब तक के कलाकारों की कृतियाँ हैं। कुछ कलाकृतियाँ 1774 ई. की भी हैं, जैसे–दक्षिण भारत, गुजरात तथा नेपाल की धातु की मूर्तियाँ, हाथ से छापे गए कपड़े तथा कढ़ाई का कामय राजपूत, काँगड़ा तथा बंगाल शैली के चित्र। आधुनिक चित्रकार अमृत शेरगिल के चित्रों के लिये एक अलग कक्ष ही बना दिया गया हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर के चित्र भी इसमें सरंक्षित हैं। समकालीन भारतीय चित्रकला क विस्तृत रूप यहाँ देखने को मिलाता है।

डोंगरा चित्रशाला

सन् 1954 में स्थापित। जम्मू में मध्यकालीन पहाड़ी चित्रकला, जैसे–काँगड़ा, बसोहली, चंबल इत्यादि की कला का अद्‌भुत संग्रहालय है। इसके अतिरिक्त श्रीनगर में राजकीय संग्रहालय में भी चित्रों का अच्छा संग्रह है।

बड़ौदा संग्रहालय तथा चित्रशाला

बड़ौदा म्यूजियम ऐंड पिक्चर गैलरी (1894)–महाराज सयाजी राव तृतीय ने स्थापित की थी। महाराजा बड़े ही कलात्मक रुचि के व्यक्ति थे और कलात्मक सामग्री के संगह का उन्हें बड़ा शौक था। देश विदेश जब भी कभी घूमने निकलते, वहाँ से वे अपनी रुचि की कलात्मक सामग्रियों को जरूर लाते। उन्होंने संसार के बहुत से देशों का भ्रमण किया था और उन जगहों से सामग्रियाँ जुटाई थीं। इस संग्रहालय में अधिकतर उन्हीं के द्वारा संग्रहीत सामग्री है। यह चित्रशाला 1914 में बनकर तैयार हुई, लेकिन इसका उद्‌घाटन 1921 में हो सका। बाद में यह और भी विकसित हुई। 1943 में चित्रशाला को आधुनिक ढंग से सुसज्जित किया गया। 1948 में बड़ौदा राज्य बंबई राज्य के अंतर्गत मिला लिया गया और तब से यह संग्रहालय बंबई के शिक्षाविभाग द्वारा संचालित होता रहा। अब यह गुजरात प्रदेश के अधीन है।

संग्रहालय के प्रथम निर्देशक श्री जे. एफ. ब्लेक थे। बाद में चित्रशाला को पुनर्गठित किया डॉ. ई. कोन वाइनर तथा डॉ. हरमन गुत्स ने।

इसमें भारत, चीन जापान, मिस्र, ईराक, फारस, ग्रीस, मरो तथा मध्यकालीन योरोप की कलाकृतियाँ संग्रहीत हैं। भवन के नीचे के चार कमरे 'यूरोपीय कक्ष' कहे जाते हैं। इसमें ग्रीस तथा रोम की (सातवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी

तक) कलाकृतियाँ तथा यूरोपीय कलाकृतियाँ हैं। एक कमरा केवल लघुचित्रों (मिनिएचर्स), छापे के कामों तथा मुद्राओं के लिये है। छः कमरे एशिया की कला के लिये है। एक कमरे में केवल जापानी कलाकृतियाँ हैं। दूसरे में तिब्बत और नेपाल की कलाकृतियाँ। तीसरे में मिस्र और बैबिलोन की कला, चौथे में चीनी कला। पाँचवे में इस्लामी कला और छठे में फारस, ईराक, तुर्की, सीरिया, मिस्र तथा स्पेन की कलाकृतियाँ हैं। पाँच चित्रशालाएँ भारतीय संस्कृति तथा कला को प्रदर्शित करती है और एक में प्रागैतिहासिक काल सामग्रियाँ हैं। एक दूसरे कक्ष में मौर्य काल से लेकर 15वीं शताब्दी तक की कलात्मक सामग्री है। एक अन्य कक्ष बड़ौदा के इतिहास को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार औद्योगिक कला के लिये भी एक अलग कक्ष है, जिसमें 12वीं शताब्दी के बाद की कला प्रदर्शित है। अंत में एक एक कक्ष बड़ौदा, गुजरात तथा महाराष्ट्र की कला के लिये रखा गया है।

15वीं शताब्दी से लेकर अट्ठारहवीं शताब्दी तक ती यूरोपियन कला दो अलग कमरों में रखी गई हैं तथा 19वीं शताब्दी की कला के लिये अलग कमरा है। आधुनिक भारतीय चित्रकला के लिये भी दो कमरे हैं। एक कमरा ब्रूनर गैलरी और दूसरा रोरिक गैलरी के नाम पर भी है।

इस प्रकार बड़ौदा की यह चित्रशाला अत्यंत समृद्ध है और आधुनिक ढंग से सुसज्जित है। यह भारत की सबसे समृद्ध चित्रशाला कहीं जा सकती है, जो एशिया में अपने ढंग की अकेली है।

प्रिंस ऑव् वेल्स म्यूजियम, बंबई (1904)

यह संग्रहालय भी चित्रशाला की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह सरकार के प्रयास से 1904 में स्थापित हुआ था। 1905 में इंग्लैंड के प्रिंस ऑव् वेल्स के भारत आगमन के सिलसिले में इसका नामकरण हुआ। इसी समय से राज्य सरकार तथा नगरपालिका की ओर से उसे आर्थिक सहायता भी मिलने लगी। बाद में सर करीम भाई इब्राहीम तथा सर कावस जी जहाँगीर ने भी इसको आर्थिक सहायता दी1 इसकी इमारत प्रसिद्ध भवननिमार्णकर्ता श्री जी. विटेट के निर्देशन से बनी थी।

इसकी चित्रशाला में भारत, योरोप, चीन, जापान तथा एशिया की कलाकृतियाँ संग्रहीत हैं। इसको समृद्ध बनाने में श्री रतन टाटा तथा दोराब टाटा का विशेष हाथ रहा है। 1915 में बंबई सरकार ने इसके लिये बहुत-सी

कलाकृतियाँ खरीदीं जिनमें मुगल चित्र मुख्य थे। रतन टाटा के संग्रह के यूरोपीय, भारतीय, चीनी तथा जापानी चित्र भी इसे प्राप्त हुए। 1921 में दोराब टाटा ने इसे अपने संग्रह के यूरोपीय चित्र, मूर्तियाँ तथा भारतीय चित्र प्रदान किए। 1925 में सर अकबर हैदरी ने अपने भारतीय चित्र प्रदान किए जिनमें अजंता की अनुकृतियाँ भी थीं। बाद में उनके संग्रह के दक्खिनी कलम के चित्र भी इस चित्रशाला को प्राप्त हुए। 1928 में बंबई राज्य ने भी अपनी सारी कलात्मक सामग्री इसे प्रदान कर दी।

मद्रास की राष्ट्रीय चित्रशाला (1951)

राजकीय संग्रहालय मद्रास के द्वारा ही विक्टोरिया टेक्निकल इंस्टिट्यूट के विक्टोरिया मेमोरियल भवन में स्थापित की गई है। इसका उद्घाटन पं. जवाहरलाल नेहरु ने 1951 में किया था। इसमें धातु, हाथीदाँत तथा लकड़ी की कला के साथ साथ वस्त्रकला के भी नमूने हैं। चित्रशाला में मुगल, राजपूत, दक्खिनी, तंजोर तथा मैसूर शैलियों के चित्र हैं। इनके अतिरिक्त राजा रविवर्मा तथा 20वीं सदी के कतिपय प्रसिद्ध कलाकारों के चित्र हैं। चित्रशाला आधुनिक ढंग से सजाई गई है और प्रकाश की उत्तम व्यवस्था की गई है।

वाराणसी का भारत-कला-भवन (1920)

भारत के उन समृद्ध संग्रहालयों में से एक है, जो केवल एक व्यक्ति के अथक परिश्रम, लगन तथा कलाप्रियता के कारण ही स्थापित हो सका और आज इस देश की अमूल्य कलानिधि बन गया है। इसके संस्थापक है काशी के पुराने रईस, साहित्यसेवी तथा कलाप्रेमी श्री राय कृष्णदास। अध्यक्ष थे गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर। पहले यह एक बहुत छोटे किराए के मकान में स्थापित हुआ था और बाद में काशी की साहित्यिक संस्था नागरीप्रारिणी सभा में इसे स्थान मिला जहाँ प्रायः 25 वर्षों तक इस संग्रहालय की चतुर्दिक समृद्धि होती रही। इसका विस्तार बहुत अधिक हो जाने पर 1950 में सभा ने इसे काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी को हस्तांतरित कर दिया।

कलाभवन को बाद में काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने और भी समृद्ध कर दिया। इसके लिये अलग से 25 लाख रुपए की लागत से एक विशाल भवन निर्मित हुआ, जिसका शिलान्यास पं. जवाहरलाल नेहरु ने किया था। इसे आधुनिक ढंग से सजाया गया है। इस संस्था को आरंभ से ही महात्मा गांधी, पं.

जवाहरलाल नेहरु, डॉ. राजेंद्रप्रसाद तथा डॉ. भगवानदास ऐसे देशरत्नों का आशीर्वाद प्राप्त था और इसी बल पर यह संस्था आज इतनी प्रगति कर सकी है।

संग्राहालय में कुल 7 विभाग हैं–

1. प्रागैतिहासिक विभाग, 2. भूमि विभाग, 3. चित्र विभाग,

4. ललित कला विभाग, 5. वसन विभाग, 6. बृहत्तर भारत विभाग तथा 7. मुद्रा विभाग।

इस संग्रहालय की चित्रशाला मध्यकालीन चित्रकला की दृष्टि से भारत में अग्रगण्य है। इसके अतिरिक्त यह भारतीय चित्रकला की सभी शैलियों से परिपूर्ण है, जैस, 11वीं 12वीं सदी की पालकालीन चित्रकला, मुगल चित्रकला, राजस्थानी चित्रकला, मालवा, मेवाड़, गुजरात, मारवाड़, किशनगढ़, बूँदी, नाथद्वारा, जयपुर एवं बुंदेलखंड की कला, पहाड़ी चित्रकला, दक्खिनी शैली, अपभ्रंश शैली, कंपनी शैली, आधुनिक बंगाल शैली, जामिनी राय की कला, निकोलस रोरिक की कला तथा आधुनिक शैली के भारतीय चित्र इत्यादि।

भारत के अन्य कला संग्रहालय तथा चित्रशालाएँ

आंध्र प्रदेश

1. हैदराबाद संग्रहालय (1930)- इसमें अजंता तथा एलोरा की अनुकृतियाँ, लघुचित्र (मिनिएचर्स), आधुनिक चित्र तथा मूर्तिकला के अच्छे नमूने हैं।
2. सालारजंग संग्रहालय (1951) की भारतीय चित्रशाला में राग रागनियों के चित्र, काँगड़ा तथा राजपूत चित्र, दक्खिनी चित्र तथा आधनिक भारतीय चित्र हैं। यह भी भारत का अत्यंत समृद्ध संग्रहालय है।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित भारतीय चित्रशालाएँ हैं–

(1) मदनपल्ली की चित्रशाला (1934)
(2) राजामुंद्री की चित्रशाला (1928)
(3) तिरुपति की चित्रशाला (1950)

बिहार प्रदेश

1. दरभंगा में चंद्रधारी संग्रहालय (1956)
2. नालंदा में नालंदा संग्रहालय (1917)
3. पटना में पटना संग्रहालय (1917)

गुजरात

1. श्री भवानी संग्रहालय, औंध (1938)- इसमें जयपुर, मुगल, राजपूत, काँगड़ा, हिमालय प्रदेश, गढ़वाल, पंजाब, बीजापुर, महाराष्ट्र, नेपाल, आधुनिक बंगाल, आधुनिक भारतीय, अजंता, सितन्नवासल तथा यूरोपीय शैली के चित्र हैं।
2. राजकोट का वाटसन संग्रहालय (1888)
3. साबरमती (अहमदाबाद) में गाँधी स्मारक संग्रहालय (1949)
4. सूरत में सरदार वल्लभभाई पटेल संग्रहालय (1890)
5. वल्लभ विद्यानगर का कलासंग्रहालय (1949)
6. हिमाचल प्रदेश में भूरिसिंह संग्रहालय (1908)

केरल

1. केरल की चित्रशाला (1938)
2. त्रिवेंद्रम में राजकीय चित्रशाला (1935)

मध्य प्रदेश

1. नागपुर का सेंट्रल संग्रहालय (1863)
2. इंदौर का सेंट्रल संग्रहालय (1928)
3. ग्वालियर का संग्रहालय (1922)
4. नवगंज में राजकीय संग्रहालय (1937)
5. राजपुर में महंत धासीदास संग्रहालय (1875)

तमिलनाडु

1. फोर्ट सेंट जार्ज संग्रहालय (1948)
2. राष्ट्रीय चित्रशाला (1861)
3. पुदुक्कोटै का राजकीय संग्रहालय (1910)
4. तंजोर की चित्रशाला (1153)
5. मैसूर में बँगलोर संग्रहालय (1866)
6. बीजापुर संग्रहालय (1912)
7. चित्रदुर्ग का संग्रहालय (1951)
8. मँगलोर की चित्रशाला (1957)

राजस्थान

1. अजमेर का राजपूताना संग्रहालय (1908)
2. अलवर का राजकीय संग्रहालय (1940)
3. भरतपुर का राजकीय संग्रहालय (1944)
4. बीकानेर का गंगा संग्रहालय (1937)
5. बूँदी का संग्रहालय (1942)
6. जयपुर का संग्रहालय (1876)
7. कोटा का संग्रहालय (1944)

उत्तर प्रदेश

1. इलाहाबाद का संग्रहालय (1931)
2. कालपी का हिंदीभवन संग्रहालय (1950)
3. लखनऊ का राजकीय संग्रहालय (1863)
4. वाराणसी का भारत-कला-भवन (1920)

महाराष्ट्र

1. प्रिंस आव वेल्स संग्रहालय, बंबई (1855)।
2. राजवादे संग्रहालय, धूलिया (1932)।
3. कोल्हापुर संग्रहालय, कोल्हापुर (1946)।
4. जामनगर संग्रहालय, जामनगर (1946)

अन्याय

1. उड़ीसा का राजकीय संग्रहालय, भुवनेश्वर (1932)
2. पंजाब में पटियाला का प्रांतीय संग्रहालय (1948)
3. शिमला की चित्रशाला (1947)

9

मुगल चित्रकला

कला इतिहास

मुगल पेंटिंग दक्षिण एशियाई चित्रकला की एक विशेष शैली है, जिसे आमतौर पर या तो पुस्तक चित्र के रूप में या केवल एल्बमों में रखे जाने वाले कार्यों के रूप में लघु चित्रों तक ही सीमित किया जाता है, जो भारतीय हिंदू, जैन और फारसी लघु चित्रकला (खुद को काफी हद तक चीनी मूल) से उभरा है। बौद्ध प्रभाव और 16वीं से 18वीं शताब्दी के मुगल साम्राज्य के दरबार में बड़े पैमाने पर विकसित हुआ।

मुगल पेंटिंग बाद में मुस्लिम और हिंदू और बाद में सिख दोनों अन्य भारतीय अदालतों में फैल गई। विदेशी फारसी और स्वदेशी भारतीय तत्त्वों का मेल विदेशी संस्कृति के अन्य पहलुओं के संरक्षण का एक सिलसिला था जो पहले के तुर्क-अफगान दिल्ली सल्तनत द्वारा शुरू किया गया था और इसे विभिन्न एशियाई एशियाई तुर्क राजवंशों द्वारा उपमहाद्वीप में पेश किया गया था, जैसे–कि Ghaznavids

मूल

चित्रकला की यह कला फारसी और भारतीय विचारों के सम्मिश्रण के रूप में विकसित हुई। दिल्ली के तुर्क-अफगान सल्तनत के तहत पहले से ही

लघु चित्रकला की एक मुस्लिम परंपरा थी, जिसे मुगलों ने उखाड़ फेंका और मुगलों की तरह और मध्य एशियाई आक्रमणकारियों के शुरुआती दौर में उपमहाद्वीप, विदेशी संस्कृति के संरक्षक थे। हालाँकि पहली जीवित पांडुलिपियाँ 1500 के दोनों वर्षों में मांडू से हैं, पहले की संभावना बहुत कम थीं जो या तो खो गई हैं या शायद अब इसे दक्षिणी फारस के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है, क्योंकि बाद में पांडुलिपियों को अकेले शैली से इन से अलग करना मुश्किल हो सकता है और कुछ विशेषज्ञों के बीच बहस का विषय बने हुए हैं। मुगल आक्रमण के समय तक, परंपरा ने फारसी शैली के विशिष्ट दृष्टिकोण को छोड़ दिया था और जानवरो और पौधों के लिए अधिक यथार्थवादी शैली को अपनाया।

राजवंश के संस्थापक बाबर के शासनकाल से कोई लघुचित्र जीवित नहीं है और न ही वह अपनी डायरी, बाबरनामा में किसी भी कमीशन का उल्लेख करता है। इस की प्रतियां उनके वंशजों द्वारा चित्रित की गई थीं, विशेष रूप से, अकबर ने कई नए जानवरों के कई चित्रों के साथ बाबर का सामना किया जब उन्होंने भारत पर आक्रमण किया, जो कि सावधानीपूर्वक वर्णित हैं, हालांकि कुछ जीवित अप्रकाशित पांडुलिपियों को उनके द्वारा कमीशन किया गया हो सकता है और वे कुछ प्रसिद्ध भूतपूर्व संगीतकारों की शैली पर टिप्पणी करते हैं। कुछ पुराने सचित्र पांडुलिपियों पर उनकी मुहर है, मुगल एक लंबी लाइन से वापस तैमूर की ओर खिंचे चले आये और पूरी तरह से फारसी संस्कृति में आत्मसात हो गए और उनसे साहित्य और कलाओं को संरक्षण देने की अपेक्षा की गई।

मुगल चित्रकला ने फारसी लघु चित्रों की तुलना में यथार्थवादी चित्रंकन में तुरंत अधिक रुचि ली। जानवरो और पौधों को भी अधिक वास्तविक रूप से दिखाया गया था यद्यपि फारसी साहित्य के कई क्लासिक कामों को चित्रित किया जाना जारी रहा, साथ ही साथ भारतीय रचनाएँ, बाबर द्वारा शुरू किए गए संस्मरण या डायरी लिखने के लिए मुगल सम्राटों का स्वाद, कुछ बेहद आकर्षक ढंग से सजाए गए ग्रंथ, जैसे–कि पद्शनाम शैली आधिकारिक इतिहास। विषय विविधता से समृद्ध है और इसमें पोर्ट्रेट, घटनाओ और अदालती जीवन के दृश्य, वन्य जीवन और शिकार के दृश्य और लड़ाई के चित्र शामिल हैं। केंद्रीय छवि बनाने वाली समृद्ध रूप से सजी हुई सीमाओं की फारसी परंपरा जारी थी।

मुगल स्कूल की शैली शाही एटलियर के भीतर विकसित हुई। ज्ञान मुख्य रूप से पारिवारिक और शिक्षुता संबंधों के माध्यम से प्रसारित किया गया था और

संयुक्त पांडुलिपि उत्पादन की प्रणाली जो एकल कार्यों के लिए कई कलाकारों को एक साथ लाती थी।

विकास

हुमायूँ (1530-40 और 1555-56)

जब दूसरे मुगल सम्राट, हुमायूँ फारस के शाह तहमास प्रथम के सफवीद दरबार में तबरीज में निर्वासन में थे, उन्हें फारसी की लघु चित्रकला से अवगत कराया गया था और वहाँ कम से कम एक काम शुरू किया, जो कि तैमूर के घरानों के राजकुमारों की एक बड़ी पेंटिंग थी।, अब ब्रिटिश संग्रहालय में। जब हुमायूँ भारत वापस आया, तो वह दो निपुण फारसी कलाकारों अब्द अल-समद और मीर सैय्यद अली को अपने साथ लाया। उनके सूदखोर भाई कामरान मिर्जा ने काबुल में एक वर्कशॉप बना रखी थी, जिसे हुमायूँ ने अपने हाथों में ले लिया था। हुमायूं का प्रमुख ज्ञात आयोग 36 प्रबुद्ध पृष्ठों वाला निजामी का खमसा था, जिसमें विभिन्न कलाकारों की अलग-अलग शैली ज्यादातर स्पष्ट हैं। लंदन पेंटिंग के अलावा, उन्होंने कम से कम दो लघु चित्रों को भी अपने परिवार के सदस्यों के साथ दिखाया, एक प्रकार का विषय जो फारस में दुर्लभ था, लेकिन मुगलों के बीच आम होना था।

मुगल चित्रकला अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल के दौरान विकसित और विकसित हुई।

अकबर (1556-1605)

हुमायूँ के बेटे अकबर (1556-1605) के शासनकाल के दौरान, शाही अदालत, विशाल मुगल साम्राज्य का प्रबंधन और शासन करने के लिए प्रशासनिक अधिकार का केंद्र होने के अलावा, सांस्कृतिक उत्कृष्टता के केंद्र के रूप में भी उभरा। अकबर को विरासत में अपने पिता के पुस्तकालय और अदालत के चित्रकारों के एटलियर का विस्तार किया गया और इसके उत्पादन पर व्यक्तिगत ध्यान दिया। उन्होंने अब्द-समद के तहत अपनी युवावस्था में चित्रकला का अध्ययन किया था, हालांकि यह स्पष्ट नहीं है कि ये अध्ययन कितनी दूर गए थे।

1560 और 1566 के बीच टुटिनामा ("टेल्स ऑफ ए पैरट"), अब कला के क्लीवलैंड संग्रहालय में चित्रित किया गया था, "एक प्रारंभिक चरण में शाही मुगल शैली के शैलीगत घटक" दिखा रहा था। 1562 और 1577 के बीच अन्य पांडुलिपियों के बीच, एटलियर ने हमजानमा की एक सचित्र पांडुलिपि पर काम किया, जिसमें 1,400 कैनवस फोलियो थे। सादी की कृति द गुलिस्तान का निर्माण 1582 में फतेहपुर सीकरी में किया गया था, 1585 के आस-पास एक दरब नामाय निजामी (ब्रिटिश लाइब्रेरी या 1220 जीम) के खमसा ने 15 90 के दशक मे और जामी के बहारिस्तान ने 15 95 के आस-पास लाहौर में पीछा किया। चूंकि मुगल-व्युत्पन्न पेंटिंग हिंदू अदालतों में फैली हुई थी, इसलिए सचित्र ग्रंथों में रामायण और महाभारत सहित हिंदू महाकाव्य शामिल थेय पशु दंतकथाओं के साथ विषय, व्यक्तिगत चित्रय और विभिन्न विषयों के स्कोर पर पेंटिंग। इस अवधि के दौरान मुगल शैली ने खुद को यथार्थवाद और प्रकृतिवाद के तत्त्वों के साथ परिष्कृत करना जारी रखा। 1570 से 1585 के बीच अकबर ने मुगल शैली की पेंटिंग का अभ्यास करने के लिए एक सौ से अधिक चित्रकारों को काम पर रखा।

जहाँगीर (1605-25)

जहाँगीर का कलात्मक झुकाव था और उनके शासनकाल के दौरान मुगल चित्रकला का विकास हुआ। ब्रशवर्क महीन हो गया और रंग हल्का हो गया। जहाँगीर भी यूरोपीय चित्रकला से गहरे प्रभावित थे। अपने शासनकाल के दौरान वह अंग्रेजी क्राउन के सीधे संपर्क में आए और उन्हें तेल चित्रों के उपहार भेजे गए, जिसमें राजा और रानी के चित्र शामिल थे। उन्होंने अपने शाही एटलियर को पारंपरिक लघुचित्रों में प्रयुक्त चपटा बहुस्तरीय शैली के विपरीत, यूरोपीय कलाकारों के पक्ष में एकल दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने विशेष रूप से अपने स्वयं के जीवन की घटनाओं, व्यक्तिगत चित्रो और पक्षियों, फूलो और जानवरों के अध्ययन को चित्रित करने वाले चित्रों को प्रोत्साहित किया। जहाँगीरनामा, उनके जीवनकाल के दौरान लिखा गया था, जो जहाँगीर के शासनकाल का एक आत्मकथात्मक लेख है, जिसमें कई चित्र हैं, जिनमें कुछ असामान्य विषयों जैसे–कि एक संत का संघ और एक मकड़ी के बीच लड़ाई शामिल है।

शाहजहाँ (1628-59)

शाहजहाँ (1628द्58) के शासनकाल के दौरान, मुगल चित्रों का विकास जारी रहा, लेकिन अदालत की पेंटिंग अधिक कठोर और औपचारिक हो गई। रॉयल संग्रह से एक बेहतरीन इस्लामिक पांडुलिपियों में से एक, "पढानामा" (दुनिया के राजा का इतिहास) के चित्र, शाहजहाँ के शासनकाल के दौरान चित्रित किए गए थे। कागज पर फारसी में लिखा गया है, जो सोने से भरा है, इसमें उत्कृष्ट रूप से चित्रित चित्र हैं। "पद्शनाम" में राजा के दरबारियो और नौकरों को चित्रित किया गया है, जिन्हें बहुत विस्तार और व्यक्तित्त्व के साथ चित्रित किया गया है। अदालत में सख्त औपचारिकता को ध्यान में रखते हुए, हालांकि राजा और महत्त्वपूर्ण रईसों के चित्रों को सख्त प्रोफाइल में प्रस्तुत किया गया था, जबकि नौकरो और आम लोगों को, व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ चित्रित किया गया है, जो तीन-स्तरीय दृश्य या सामने वाले दृश्य में चित्रित किया गया है। संगीतकारों सहित विषयोंय प्रेमी, कभी-कभी अंतरंग स्थितियों में, छतो और बगीचों परय और तपस्वियों ने इस काल के मुगल चित्रों में एक आग के चारो और इकट्ठा किया।

बाद की पेंटिंग

औरंगजेब (1658-1707) ने मुगल चित्रों को सक्रिय रूप से प्रोत्साहित नहीं किया, लेकिन जैसे-जैसे—यह कला रूप गति पकड़ता गया और इसमें कई संरक्षक थे, मुगल चित्रों का अस्तित्त्व बना रहा, लेकिन गिरावट में सेट हो गए। कुछ स्रोतों ने हालांकि ध्यान दिया कि कुछ औरंगजेब के लिए सबसे अच्छी मुगल पेंटिंग बनाई गई थी, यह अनुमान लगाते हुए कि वे मानते हैं कि वह कार्यशालाओं को बंद करने वाला था और इस तरह वह अपनी ओर से खुद को पार कर गया। मुहम्मद शाह 'रंगीला' (1719-1948) के शासनकाल के दौरान एक संक्षिप्त पुनरुद्धार हुआ था, लेकिन शाह आलम द्वितीय (1759-1806) के समय तक, मुगल चित्रकला की कला ने अपनी महिमा खो दी थी। उस समय तक, राजपूताना के राजपूत राज्यों के राजपूतों, राजपूत चित्रकला और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा शासित शहरों में, पश्चिमी प्रभाव के तहत कंपनी शैली सहित, भारतीय चित्रकला के अन्य स्कूल विकसित हुए थे। स्वर्गीय मुगल शैली अक्सर पश्चिमी प्रभाव के तहत परिप्रेक्ष्य और मंदी के उपयोग को बढ़ाती है।

कलाकार की

16 वीं शताब्दी में भारत में हुमायूं के साथ गए फारसी मास्टर कलाकार अब्द अल-समद और मीर सैय्यद अली, मुगल चित्रकला के प्रारंभिक चरणों के दौरान शाही Atelier के प्रभारी थे। कई कलाकारों ने बड़े आयोगों पर काम किया, उनमें से अधिकांश ने स्पष्ट रूप से हिंदू, रिकॉर्ड किए गए नामों से न्याय करने के लिए। 16 वीं शताब्दी के अंत और 17 वीं शताब्दी की शुरुआत में, मास्टर कलाकारों जैसे–बसावन, लाल, दासवंत और मिस्किन द्वारा कला के शानदार कार्यों के साथ उत्कर्ष हुआ। अकबर के शासनकाल के दौरान शैली के विकास पर एक और प्रभाव केसू दास का था, जिन्होंने "अंतरिक्ष और मात्रा प्रदान करने की यूरोपीय तकनीक" को समझा और विकसित किया।

गोवर्धन अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल के दौरान एक प्रसिद्ध चित्रकार थे। मुगल चित्रकला के उप-शाही स्कूल में मुश्फिक, कमल और फजल जैसे–कलाकार शामिल थे। 18वीं शताब्दी की पहली छमाही के दौरान, कई मुगल-प्रशिक्षित कलाकारों ने राजपूत अदालतों में काम करने के लिए शाही कार्यशाला छोड़ दी। इनमें भवानीदास और उनके बेटे डालचंद जैसे–कलाकार शामिल हैं। मुगल चित्रकला में आम तौर पर कलाकारों का एक समूह शामिल होता है, एक रचना को तय करने के लिए, दूसरा वास्तव में पेंट करने के लिए और तीसरा चित्रंकन पर ध्यान केंद्रित करने के लिए, जिसमें व्यक्तिगत चेहरे होते हैं।

मुगल शैली आज

मुगल शैली की लघु चित्रकारी आज भी लाहौर में बहुत कम कलाकारों द्वारा बनाई जा रही है, जो मुख्य रूप से राष्ट्रीय कला महाविद्यालय में केंद्रित हैं, हालांकि इनमें से कई लघुचित्र मूल की कुशल प्रतियां हैं, लेकिन कुछ कलाकारों ने कई बार उत्कृष्ट कलात्मक प्रभाव के साथ क्लासिक तरीकों का उपयोग करके समकालीन कार्यों का निर्माण किया है।

मुगल लघुचित्रों के इन आधुनिक संस्करणों के निर्माण के लिए आवश्यक कौशल अभी भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी पारित किए जाते हैं, हालांकि कई कारीगर दर्जनों श्रमिकों को भी काम पर रखते हैं, जो अक्सर काम करने की परिस्थितियों में पेंटिंग करते हैं, अपने आधुनिक स्वामी के हस्ताक्षर के तहत बेचे जाने वाले कार्यों का उत्पादन करने के लिए।

10

राजस्थानी चित्रकला

भारतीय चित्रकला में राजस्थानी चित्रकला का विशिष्ट स्थान है, उसका अपना एक अलग स्वरूप है। यहाँ की इस सम्पन्न चित्रकला के तरफ हमारा ध्यान सर्वप्रथम प्रसिद्ध कलाविद् आनन्दकंटका कुमारस्वामी ने अपनी पुस्तक 'राजपूत पेन्टिग' के माध्यम से दिलाया। कुछ उपलब्ध चित्रों के आधार पर कुमारस्वामी तथा ब्राउन जैसे–विद्वानों ने यह धारणा बनाई कि राजस्थानी शैली, राजपूत शैली है तथा नाथद्वारा शैली के चित्र उदयपुर शैली के हैं। परिणामस्वरूप राजस्थानी शैली का स्वतंत्र अस्तित्त्व बहुत दिनों तक स्वीकार नहीं किया जा सका। इसके अलावा खंडालवाला की रचना लीवस फ्राम राजस्थान (मार्ग, भाग-Re, संख्या 3, 1952) ने पहली बार विद्वानों का ध्यान यहाँ की चित्रकला की उन खास पहलुओं की तरफ खींचा जो इन पर स्पष्ट मुगल प्रभावों को दर्शाता है।

वास्तव में राजस्थानी शैली, जिसे शुरू में राजपूत शैली के रूप में जाना गया, का प्रादुर्भाव 15 वीं शती में अपभ्रंश शैली से हुआ। समयान्तर में विद्धानों की गवेषणाओं से राजस्थानी शैली के ये चित्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगे।

इन चित्रकृतियों पर किसी एक वर्ग विशेष का समष्टि रूप में प्रभाव पड़ना व्यावहारिक नहीं जान पड़ता। धीरे-धीरे यह बात प्रमाणित होती गई कि राजस्थानी शैली को राजपूत शैली में समावेशित नहीं किया जा सकता, वरन इसके अन्तर्गत अनेक शैलियों का समन्वय किया जा सकता है। धीरे-धीरे

राजस्थानी चित्रकला की एक शैली के बाद दूसरी शैली अपने कुछ स्त्रोतीय प्रभावों व उनपर मुगलों के आंशिक प्रभावों को, स्वतंत्र रूप से अपना पहचान बनाने में सफल हो गयी। इनको हम विभिन्न नामों जैसे–मेवाड़ शैली, मारवाड़ शैली, बूंदी शैली, किशनगढ़ शैली, जयपुर शैली, अलवर शैली, कोटा शैली, बीकानेर शैली, नाथ द्वारा शैली आदि के रूप में जाना जाता है। उणियारा तथा आमेर की उपशैलियाँ भी अस्तित्त्व में आयी जो उसी स्त्रोत की प्रचलित शैलियों का रुपान्तर हैं।

राजस्थानी चित्रकला की विशेषताएँ

राजस्थानी चित्रकला अपनी कुछ खास विशेषताओं की वजह से जानी जाती है, जैसे: –

प्राचीनता

प्राचीनकाल के भग्नावशेषों तथा तक्षणकला, मुद्रा कला तथा मूर्तिकला के कुछ एक नमूनों द्वारा यह स्पष्ट है कि राजस्थान में प्रारंभिक, ऐतिहासिक काल से ही चित्रकला का एक सम्पन्न रूप रहा है। वि. सं. पूर्व के कुछ राजस्थानी सिक्कों पर अंकित मनुष्य, पशु, पत्री, सूर्य, चन्द्र, धनुष, बाण, स्तूप, बोधिद्रम, स्वास्तिक, ब्रज पर्वत, नदी आदि प्रतीकों से यहाँ की चित्रकला की प्राचीनता स्पष्ट होती है। वी. सं. 84 का बाड़ली–शिलालेख तथा वि. सं. पूर्व तीसरी शताब्दी के माध्यमिक नगरी के दो शिलालेखों से भी संकेतित है कि राजस्थान में बहुत पहले से ही चित्रकला का समृद्ध रूप रहा है। बैराट, रंगमहल तथा आहड़ से प्राप्त सामग्री पर वृक्षावली, रेखावली तथा रेखाओं का अंकन इसके वैभवशाली चित्रकला के अन्य साक्ष्य हैं।

कलात्मकता

राजस्थान भारतीय इतिहास के राजनीतिक उथल–पुथल से बहुत समय तक बचा रहा है, अत: यह अपनी प्राचीनता, कलात्मकता तथा मौलिकता को बहुत हद तक संजो कर रखने में दूसरे जगहों के अपेक्षाकृत ज्यादा सफल रहा है। इसके अलावा यहाँ का शासक वर्ग भी सदैव से कला प्रेमी रहा है। उन्होंने राजस्थान को वीरभूमि तथा युद्ध भूमि के अतिरिक्त 'कथा की सरसता से आप्लावित भूमि' होने का सौभाग्य भी प्रदान किया। इसकी कलात्मकता में

अजन्ता शैली का प्रभाव दिखता है, जो नि:संदेह प्राचीन तथा व्यापक है। बाद में मुगल शैली का प्रभाव पड़ने से इसे नये रूप में भी स्वीकृति मिल गई।

रंगात्मकता

चटकीले रंगों का प्रयोग राजस्थानी चित्रकला की अपनी विशेषता है। ज्यादातर लाल तथा पीले रंगों का प्रचलन है। ऐसे रंगों का प्रयोग यहाँ के चित्रकथा को एक नया स्वरूप देते हैं, नई सुन्दरता प्रदान करते हैं।

विविधता

राजस्थान में चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ अपना अलग पहचान बनाती हैं। सभी शैलियों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जो इन्हें दूसरों से अलग करती है। स्थानीय भिन्नताएँ, विविध जीवन शैली तथा अलग-अलग भौगोलिक परिस्थितियाँ इन शैलियों को एक-दूसरे से अलग करती है, लेकिन फिर भी इनमें एक तरह का समन्वय भी देखने को मिलता है।

विषय-वस्तु

इस दृष्टिकोण से राजस्थानी चित्रकला को विशुद्ध रूप से भारतीय चित्रकला कहा जा सकता है। यह भारतीय जन-जीवन के विभिन्न रंगों की वर्षा करता है। विषय-वस्तु की विविधता ने यहाँ की चित्रकला शैलियों को एक उत्कृष्ट स्वरूप प्रदान किया। चित्रकारी के विषय-वस्तु में समय के साथ ही एक क्रमिक परिवर्तन देखने को मिलता है। शुरू के विषयों में नायक-नायिका तथा श्रीकृष्ण के चरित्र-चित्रण की प्रधानता रही, लेकिन बाद में यह कला धार्मिक चित्रों के अंकन से उठकर विविध भावों को प्रस्फुटित करती हुई सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करने लगी। यहाँ के चित्रों में आर्थिक समृद्धि की चमक के साथ-साथ दोनों की कला है। शिकार के चित्र, हाथियों का युद्ध, नर्तकियों का अंकन, राजसी व्यक्तियों के छवि चित्र, पतंग उड़ाती, कबूतर उड़ाती तथा शिकार करती हुई स्त्रियाँ, होली, पनघट व प्याऊ के दृश्यों के चित्रण में यहाँ के कलाकारों ने पूर्ण सफलता के साथ जीवन के उत्साह तथा उल्लास को दर्शाया है।

बारहमासा के चित्रों में विभिन्न महीनों के आधार पर प्रकृति के बदलते स्वरूप को अंकित कर, सूर्योदय के राक्तिमवर्ण राग भैरव के साथ वीणा लिए

नारी हरिण सहित दर्शाकर तथा संगीत का आलम्बन लेकर मेक्षों का स्वरूप बताकर कलाकार ने अपने संगीत-प्रेम तथा प्रकृति-प्रेम का मानव-रुपों के साथ परिचय दिया है। इन चित्रों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा, साहित्य व संगीत में कोई भिन्न अभिव्यक्ति नहीं है। प्रकृति की गंध, पुरुषों का वीरत्व तथा वहाँ के रंगीन उल्लासपूर्ण संस्कृति अनूठे ढंग से अंकित है।

स्त्री-सुन्दरता

राजस्थानी चित्रकला में भारतीय नारी को अति सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है। कमल की तरह बड़ी-बड़ी आँखें, लहराते हुए बाल, पारदर्शी कपड़ों से झाक रहे बड़े-बड़े स्तन, पतली कमर, लम्बी तथा घुमावदार ऊँगलियाँ आदि स्त्री-सुन्दरता को प्रमुखता से इंगित करते हैं। इन चित्रों से स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त विभिन्न उपलब्ध सोने तथा चाँदी के आभूषण सुन्दरता को चार चाँद लगा देते हैं। आभूषणों के अलावा उनकी विभिन्न भंगिमाएँ, कार्य-कलाप तथा स्त्रोत विशेष के पहनावे चित्रकला में एक वास्तविकता का आभास देते हैं।

राजस्थानी चित्रकला का आरम्भ

राजस्थानी चित्रकला अपनी प्राचीनता के लि, जाना जाता है। अनेक प्राचीन साक्ष्य नि:सदेह इसके वैभवशाली अस्तित्त्व की पुष्टि करते हैं। जब राजस्थान की चित्रकला अपने प्रारंभिक दौर से गुजर रही थी तब अजन्ता परंम्परा भारत की चित्रकारी में एक नवजीवन का संचार कर रही थी। अरब आक्रमणों के झपेटों से बचने के लिए अनेक कलाकार गुजरात, लाट आदि प्रान्तों को छोड़कर देश के अन्य भागों में बसने लगे थे, जो चित्रकार इधर आये थे उन्होंने अजन्ता परम्परा की शैली को स्थानीय शौलियों में स्वाभाविकता के साथ समन्वित किया। उनके तत्त्वावधान में अनेक चित्रपट तथा चित्रित ग्रंथ बनने लगे जिनमें निशीथचूर्शि, त्रिष्टिशलाकापुरुषचरित, नेमिनाथचरित, कथासरित्सागर, उत्तराध्ययन सुत्र, कल्पसूत्र तथा कालककथा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अजन्ता परम्परा के गुजराती चित्रकार सर्वप्रथम मेवाड़ तथा मारवाड़ में पहुँचे। इस समन्वय से चित्रकारी की मौलिक विधि में एक नवीनता का संचार हुआ जिसे मडोर द्वार के गोवर्धन-धारण तथा बाडौली तथा नागदा गाँव की मूर्तिकला में सहज ही देखा जा सकता है। राजस्थान की समन्वित शैली के तत्त्वावधान में अनेक जैन-ग्रंथ चित्रित किये गये। शुरुआती अवधारणा थी कि इन्हें जैन साधुओं ने ही चित्रित किया है अत:

इसे 'जैन शैली' कहा जाने लगा, लेकिन बाद में पता चला कि इन ग्रंथों को जैनेत्तर चित्रकारों ने भी तैयार किया है तथा कुछ अन्य धार्मिक ग्रंथ जैसे–बालगोपालस्तुति, दुर्गासप्तशती, गीतगोविंद आदि भी इसी शैली में चित्रित किये गये हैं तो जैन शैली के नाम की सभी चीता में सन्देह व्यक्त किया गया। जब प्रथम बार अनेक ऐसे जैन ग्रंथ गुजरात से प्राप्त हुए तब इसे 'गुजरात शैली' कहा जाने लगा, लेकिन शीघ्र ही गुजरात के अलावा पश्चिम भारत के अन्य हिस्सों में दिखे तब इसे पश्चिम 'भारतीय शैली' नाम दिया गया। बाद में इसी शैली के चित्र मालवा, गढ़मांडू, जौनपुर, नेपाल आदि अपश्चिमीय भागों में प्रचुरता से मिलने लगे, तब इसके नाम को पुनः बदलने की आवश्यकता महसूस की गई। उस समय का साहित्य को 'अपभ्रंश साहित्य' कहा जाता है। चित्रकला भी उस काल और स्वरूप से अपभ्रंश साहित्य से मेल खाती दिखाई देती है, अतः इस शैली को 'अपभ्रंश शैली' कहा जाने लगा तथा शैली की व्यापकता की मर्यादा की रक्षा हो सकी। इस शैली को लोग चाहे जिस नाम से पुकारे इस बात में कोई संदेह नहीं कि इस शैली के चित्रों में गुजरात तथा राजस्थान में कोई भेद नहीं था। वागड़ तथा छप्पन के भाग में गुजरात से आये कलाकार 'सोमपुरा' कहलाते है। महाराणा कुम्भा के समय का शिल्पी मंडन गुजरात से ही आकर यहाँ बसा था। उसका नाम आज भी राजस्थानी कला में एक सम्मानित स्थान रखता है। इस शैली का समय 11 वीं शताब्दी से 15 वीं शताब्दी तक माना जाता है। इसी का विकसित रूप वर्त्तमान का राजस्थानी चित्रकारी माना जाता है।

चूंकि इसका प्रादुर्भाव अपभ्रंश शैली से हुआ है। अतः इनके विषयों में कोई खास अन्तर नहीं पाया जाता पर विधान तथा आलेखन सम्बंधी कुछ बातों में अन्तर है। प्रारंभिक राजस्थानी शैली के रूप में अपभ्रंश शैली की सवाचश्म आँख एक चश्म हो गई तथा आकृति अंकन की रुढ़िबद्धता से स्वतंत्र होकर कलाकार ने एक नई सांस्कृतिक क्रान्ति को जन्म दिया। चित्र इकहरे कागज के स्थान पर बसली (कई कागजों को चिपका कर बनाई गई तह) पर अंकित होने लगे। अपभ्रंश के लाल, पीले तथा नीले रंगों के साथ-साथ अन्य रंगों का भी समावेश हुआ। विषय-वस्तु में विविधता आ गई। सामाजिक जीवन को चित्रित किया जाने लगा लेकिन उसकी मौलिकता को अक्षु.ण रखने की कोशिश की गई। दूसरे शब्दों में राजस्थानी शैली अपभ्रंश शैली का ही एक नवीन रूप है, जो 9 वी--10 वीं- शती से कुछ विशेष कारणवश अवनति की ओर चली गई थी।

प्रारंभिक राजस्थानी चित्रों की उत्कृष्टता 1540 ई. के आस-पास चित्रित ग्रंथों जिसमें मृगावती, लौरचन्दा, चौरपंचाशिका तथा गीतगोविन्द प्रमुख हैं, पृष्ठों पर अंकित हैं। इसके अलावा रागमाला तथा भागवत के पृष्ठ इसकी उत्कृष्टता के परिचायक हैं। मालवा के रसिकप्रिया (1634 ई.) से राजस्थानी चित्रकारी में राजसी प्रमाणों का शुरुआत हुआ।

इन चित्रों के सौंदर्य से मुगल भी प्रभावित हुए। बादशाह अकबर ने कई हिन्दू चित्रकारों को अपने शाही दरबारियों के समूह में सम्मिलित किया। राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण दोनों के चित्र शैलियों में परस्पर आदान-प्रदान हुआ। राजस्थानी कलाकारों ने मुगल चित्रों से त्वचा का गुलाबी रंग ग्रहण किया जो किशनगढ़ शैली में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

दूसरी तरफ मुगलों ने राजस्थानी शैली की भाँति वास्तु का अपने चित्रों में प्रयोग किया। इसके अलावा चित्र भूमि में गहराई दर्शाकर नवीन पृष्ठ भूमि तैयार कर चित्रों को सुचारु रूप से संयोजित किया। 16 वी. से 18 वी. व 19 वी. शती तक कला की एक अनुपम धारा सूक्ष्म मिनियेचर रूप में कागज पर अंकित होती रही। इसके अतिरिक्त भित्ति-चित्रण परम्परा को भी राजस्थानी कलाकारों ने नव-जीवन दिया।

हाल के वर्षों में राजस्थानी शब्द का इस्तेमाल विस्तृत परिपेक्ष में होने लगा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार राजस्थानी चित्रकला की सीमारेखा राजस्थान तक ही सीमित न रहकर मालवा तथा मध्य भारत तक फैला हुआ है।

मारवाड़ी शैली

इस शैली का विकास जोधपुर, बीकानेर, नागौर आदि स्थानों में प्रमुखता से हुआ। मेवाड़ की भाँति, उसी काल में मारवाड़ में भी अजन्ता परम्परा की चित्रकला का प्रभाव पड़ा। तारानाथ के अनुसार इस शैली का सम्बन्ध शृंगार से है, जिसने स्थानीय तथा अजन्ता परम्परा के सामंजस्य द्वारा मारवाड़ शैली को जन्म दिया।

मंडोर के द्वार की कला तथा 687 ई. के शिवनाग द्वारा निर्मित धातु की एक मूर्ति जो अब पिंडवाड़ा में है, यह सिद्ध करती है कि चित्रकला तथा मूर्तिकला दोनों में मारवाड़ इस समय तक अच्छी प्रगति कर चुका था। लगभग 1000 ई. से 1500 ई. के बीच इस शैली में अनेक जैन ग्रंथों को चित्रित किया गया। इस युग के कुछ ताड़पत्र, भोजपत्र आदि पर चित्रित कल्प सूत्रों व अन्य

ग्रंथों की प्रतियाँ जोधपुर पुस्तक प्रकाश तथा जैसलमेर जैन भंडार में सुरक्षित हैं।

इस काल के पश्चात् कुछ समय तक मारवाड़ पर मेवाड़ का राजनीतिक प्रभुत्व रहा। महाराणा मोकल के काल से लेकर राणा सांगा के समय तक मारवाड़ में मेवाड़ी शैली के चित्र बनते रहे। बाद में मालदेव का सैनिक प्रभुत्व (1531–36 ई.) इस प्रभाव को कम कर मारवाड़ शैली को फिर एक स्वतंत्र रूप दिया। यह मालदेव की सैनिक रुचि की अभिव्यक्ति, चोखेला महल, जोधपुर की बल्लियों,वं छत्तों के चित्रों से स्पष्ट है। इसमें ठराम–रावण युद्ध' तथा 'सप्तशती' के अनेक दृश्यों को भी चित्रित किया गया है। चेहरों की बनावट भावपूर्ण दिखायी गई है। 1591 में मारवाड़ शैली में बनी उत्तराध्ययनसूत्र का चित्रण बड़ौदा संग्रहालय में सुरक्षित है।

जब मारवाड़ का सम्बन्ध मुगलों से बढ़ा तो मारवाड़ शैली में मुगल शैली के तत्त्वों की वृद्धि हुई। 1610 ई. में बने भागवत के चित्रण में हम पाते है कि अर्जुन कृष्ण की वेष–भूषा मुगली है, परन्तु उनके चेहरों की बनावट स्थानीय है। इसी प्रकार गोपियों की वेष–भूषा मारवाड़ी ढंग की है, परन्तु उसके गले के आभूषण मुगल ढंग के हैं। औरंगजेब व अजीत सिंह के काल में मुगल विषयों को भी प्रधानता दी जाने लगी। विजय सिंह और मान सिंह के काल में भक्तिरस तथा श्रृंगाररस के चित्र अधिक तैयार किये गये जिसमें 'नाथचरित्र' 'भागवत', शुकनासिक चरित्र, पंचतंत्र आदि प्रमुख हैं।

इस शैली में लाल तथा पीले रंगों का व्यापक प्रयोग है, जो स्थानीय विशेषता है, लेकिन बारीक कपड़ों का प्रयोग गुम्बद तथा नोकदार जामा का चित्रण मुगली है। इस शैली में पुरुष व स्त्रियाँ गठीले आकार की रहती हैं। पुरुषों के गलमुच्छ तथा ऊँची पगड़ी दिखाई जाती है तथा स्त्रियों के वस्त्रों में लाल रंग के फुदने का प्रयोग किया जाता है। 18 वीं सदी से सामाजिक जीवन के हर पहलू के चित्र ज्यादा मिलने लगते है। उदाहरणार्थ पंचतंत्र तथा शुकनासिक चरित्र आदि में कुम्हार, धोबी, मजदूर, लकड़हारा, चिड़ीमार, नाई, सुनार, सौदागर, पनिहारी, ग्वाला, माली, किसान आदि का चित्रण मिलता है। इन चित्रों में सुनहरे रंगों को प्रयोग मुगल शैली से प्रभावित है।

किशनगढ़ शैली

जोधपुर से वंशीय सम्बन्ध होने तथा जयपुर से निकट होते हुए भी किशनगढ़ में एक स्वतंत्र शैली का विकास हुआ। सुन्दरता की दृष्टि से इस

शैली के चित्र विश्व-विख्यात हैं। अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी प्राचीन काल से चित्र बनते रहे। किशानगढ़ राज्य के संस्थापक किशन सिंह कृष्ण के अनन्योपासक थे। इसके पश्चात् सहसमल, जगमल व रुपसिंह ने यहाँ शासन किया। मानसिंह व राजसिंह (1706-48) ने यहाँ की कलाशैली के पुष्कल सहयोग दिया, परन्तु किशानगढ़ शैली का समृद्ध काल राजसिंह के पुत्र सामन्त सिंह (1699-1764) से जो नागरीदारा के नाम से आधिक विख्यात हैं, से आरंम्भ होता है। नागरीदारा की शैली में वैष्णव धर्म के प्रति श्रद्धा, चित्रकला के प्रति अभिरुचि तथा अपनी प्रेयसी 'वणी-गणी' से प्रेम का चित्रण महत्त्वपूर्ण है। कवि हृदय सावन्त सिंह नायिका वणी-गणी से प्रेरित होकर अपना राज्य छोड़ 'वणी-गणी' को साथ लेकर वृन्दावन में आकर बस गये और नागर उपनाम से नागर सम्मुचय की रचना की। नागरीदास की वैष्णव धर्म में इतनी श्रद्धा थी और उनका गायिका वणी गणी से प्रेम उस कोटि का था कि वे अपने पारस्परिक प्रेम में राधाकृष्ण की अनुभूति करने लगे थे। उनदोनों के चित्र इसी भाव को व्यक्त करते हैं। चित्रित सुकोमला वणी-ठणी को ठभारतीय मोनालिसा' नाम से अभिहित किया गया। काव्यसंग्रह के आधार पर चित्रों के सृजन कर श्रेय नागरी दास के ही समकालीन कलाकार निहालचन्द को है। 'वणी-गणी' में कोकिल की नायिका की दीर्घ नासिका, कजरारे नयन, कपोलों पर फैले केशराशि के साथ दिखलाया गया है। इस प्रकार इस शैली में हम कला, प्रेम और भक्ति का सर्वांणीण सामंजस्य पाते है। निहालचन्द के अलावा सूरजमल इस समय का प्रमुख चित्रकार था। अन्य शैलियों की तरह इस शैली में भी 'गीत-गोविन्द' का चित्रण हुआ।

इस शैली के चेहरे लम्बे, कद लम्बा तथा नाक नुकीली रहती है। नारी नवयौवना, लज्जा से झुका पतली व लम्बी है। धनुषाकार भ्रू-रेखा, खंजन के सदृश नयन तथा गौरवर्ण है। अधर पतले व हिगुली रंग के हैं। हाथ मेहंदी से रचे तथा महावर से रचे पैर हैं। नाक में मोती से युक्त नथ पहने, उच्च वक्ष स्थल पर पारदर्शी छपी चुन्नी पहने रूप यौवना सौदर्य की पराकाष्ठा है। नायक पारदर्शक जामे में खेत 9 मूंगिया पगड़ी पहने प्रेम का आह्वान से करता है। मानव रुपों के साथ प्रकृति भी सफलता से अंकित है। स्थानीय गोदोला तालाब तथा किशनगढ़ के नगर को दूर से दिखाया जाना इस शैली की अन्य विशेषता है। चित्रों को गुलाबी व हरे छींटदार हाशियों से बाँधा गया है। चित्रों में दिखती वेष-भूषा फर्रुखसियर कालीन है। इन विशेषताओं को हम वृक्षों की घनी

पत्रावली अट्टालिकाओं तथा दरवारी जीवन की रात की झांकियों, सांझी के चित्रों तथा नागरीदास से सम्बद्ध वृन्दावन के चित्रों में देख सकते हैं।

बीकानेर शैली

मारवाड़ शैली से सम्बंधित बीकानेर शैली का समृद्ध रूप अनूपसिंह के शासन काल में मिलता है। उस समय के प्रसिद्ध कलाकारों में रामलाल, अजीरजा, हसन आदि के नाम विशेषत रूप से उल्लेखनीय हैं। इस शैली में पंजाब की कलम का प्रभाव भी देखा गया है, क्योंकि अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण बीकानेर उत्तरी प्रदेशों से प्रभावित रहा है, लेकिन दक्षिण से अपेक्षतया दूर होने के बाबजूद यहाँ फब्वारों, दरबार के दिखावों आदि में दक्षिण शैली का प्रभाव मिलता है, क्योंकि यहाँ के शासकों की नियुक्ति दक्षिण में बहुत समय तक रही।

हाड़ौती शैली/बूंदी व कोटा शैली

राजस्थानी चित्रकला को बूंदी व कोटा चित्रशैली ने भी अनूठे रंगों से युक्त स्वर्मिण संयोजन प्रदान किया है। प्रारंभिक काल में राजनीतिक कारणों से बूंदी कला पर मेवाड़ शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इस स्थिति को स्पष्ट व्यक्त करने वाले चित्रों में रागमाला (1625 ई.) तथा भैरवी रागिनी उल्लेखनीय है।

इस शैली का विकास राव सुरजन सिंह (1554-85) के समय के आरम्भ हो जाता है। उन्होंने मुगलों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था अत: धीरे-धीरे चित्रकला की पद्धति में एक नया मोड़ आना शुरू हो जाता है। दीपक राग तथा भैरव रागिनी के चित्र राव रतन सिंह (1607-31) के समय में निर्मित हुए। राव रतन सिंह चूकि जहाँगीर का कृपा पात्र था, तथा उसके बाद राव माधो सिंह के काल में जो शाहजहाँ के प्रभाव में था, चित्र कला के स्रोत में भी मुगल प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। चित्रों में बाग, फव्वारे, फूलों की कतार, तारों भरी राते आदि का समावेश मुगल ढंग से किया जाने लगा। भाव सिंह (1658-81) भी काव्य व कला प्रेमी शासक था। राग- रागिनियों का चित्रण इनके समय में हुआ। राजा अनिरुद्ध के समय दक्षिण युद्धों के फलस्वरूप बूंदी शैली में दक्षिण कला के तत्त्वों का सम्मिलित हुआ। बूंदी शैली के उन्नयन में यहाँ के शासक

राव राजाराम सिंह (1821-89) का अभूतपूर्व सहयोग रहा। बूंदी महल के ठछत्र महल' नामक प्रकोष्ठ में उन्होंने भित्ति-चित्रों का निर्माण करवाया।

बूंदी चित्रों में पटोलाक्ष, नुकीली नाक, मोटे गाल, छोटे कद तथा लाल पीले रंग की प्राचुर्यता स्थानीय विशेषताओं का द्योतक है, जबकि गुम्बद का प्रयोग और बारीक कपड़ों का अंकन मुगली है। स्त्रियों की वेश-भूषा मेवाड़ी शैली की है। वे काले रंग के लहंगे व लाल चुनरी में हैं। पुरुषाकृतियाँ नील व गौर वर्ण में हृष्ट-पुष्ट हैं, दाढ़ी व मूँछों से युक्त चेहरा भारी चिबुक वाला है। वास्तुचित्रण प्रकृति के मध्य है। घुमावदार छतरियों व लाल पर्दो से युक्त वातायन बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं। केलों के कुज अन्तराल को समृद्ध करते हैं।

बूंदी चित्रों का वैभव चित्रशाला, बड़े महाराज का महल, दिगम्बर जैन मंदिर, बूंदी कोतवाली, अन्य कई हवेलियों तथा बावड़ियों में बिखरा हुआ है।

कोटा में भी राजनीतिक स्वतंत्रता से नवीन शैली का आरम्भ होता है। वल्लभ सम्प्रदाय, जिसका प्रभाव यहाँ 18 वीं शती के प्रारम्भिक चरण में पड़ा, में राधा कृष्ण का अंकन विशेष रूप से हुआ। परन्तु कोटा शैली अपनी स्वतंत्र अस्तित्त्व न रखकर बूंदी शैली का ही अनुकरण करती है। उदाहरणार्थ जालिम सिंह की हवेली में चित्रित नायिका हू-ब-हू बूंदी नायिका की नकल कही जा सकती है। आगे चलकर भी कोटा शैली बूंदी शैली से अलग न हो सकी। कोटा के कला प्रेमी शासक उम्मेद सिंह (1771-1820) की शिकार में अत्यधिक रुचि थी। अत: उसके काल में शिकार से सम्बद्ध चित्र अधिक निर्मित हुए। आक्रामक चीता व राजा उम्मेद सिंह का शिकार करते हुए चित्र बहुत सजीव है। चित्रों में प्रकृति की सधनता जंगल का भयावह दृश्य उपस्थित करती है। कोटा के उत्तम चित्र देवताजी की हवेली, झालाजी की हवेली व राजमहल से प्राप्त होते हैं।

जयपुर शैली

जयपुर शैली का विकास आमेर शैली से हुआ। मुगल शैली के प्रभाव का आधिक्य इस शैली की विशेषता है, जयपुर के महाराजाओं पर मुगल जीवन तथा नीति की छाप विशेष रूप से रही है। अकबर के आमेर के राजा भारमल की पुत्री से विवाहोपरान्त सम्बन्धों मे और प्रगाढ़ता आयी।

शुरुआती चित्र परम्परा भाऊपुरा रैनबाल की छवरी, भारभल की छवरी (कालियादमन, मल्लयोद्धा), आमेर महल व वैराट की छतरियों में भित्तियों पर

(वंशी बजाते कृष्ण) तथा कागजों पर प्राप्त होती है। बाद में राजा जयसिंह (1621-67) तथा सवाई जयसिंह (1699-1743) ने इस शैली को प्रश्रय दिया। राजा सवाई जयसिंह ने अपने दरबार में मोहम्मद शाह व साहिबराम चितेरो को प्रश्रय दिया। इन कलाकारों ने सुन्दर व्यक्ति, चित्रों व पशु-पक्षियों की लड़ाई सम्बंधी अनेक बड़े आकार के चित्र बना। सवाई माधो सिंह प्रथम (1750-67) के समय में अलंकरणों में रंग न भरकर मोती, लाख व लकड़ियाँ की मशियों को चिपकाकर चित्रण कार्य हुआ। इसी समय माधोनिवास, सिसोदिनी महल, गलता मंदिर व सिटी पैलेस में सुन्दर भिति चित्रों का निर्माण हुआ। सवाई प्रताप सिंह (1779-1803) जो स्वयं पुष्टि मार्गी कवि थे, के समय में कृष्ण लीला, नायिका भेद, राग-रागिनी, तुवर्णन, भागवतपुराण, दुर्गासप्तसती से सम्बंधित चित्र सृजित हुए। महाराज जगतसिंह के समय में पुंडरीक हवेली के भित्ति चित्र, विश्व-प्रसिद्ध 'कृष्ण का गोवर्धन-धारण' नामक चित्र रासमंडल के चित्रों का निर्माण हुआ। पोथीखाने के आसावरी रागिणी के चित्र व उसी मंडल के अन्य रागों के चित्रों में स्थानीय शैली की प्रधानता दिखाई देती है। कलाकार ने आसावरी रागिणी के चित्र में शबरी के केशों, उसके अल्प कपड़ों, आभूषणो और चन्दन के वृक्ष के चित्रण में जयपुर शैली की वास्तविकता को निभाया है। इसी तरह पोथीखाना के 17 वीं शताब्दी के 'भागवत' चित्रों में जो लाहोरे के एक खत्री द्वारा तैयार करवाये गये थे, स्थानीय विशेषताओं का अच्छा दिग्दर्शन है। 18 वीं शाताब्दी की 'भागवत' में रंगों की चटक मुगली है। चित्रों में द्वारिका का चित्रण जयपुर नगर की रचना के आधार पर किया गया है और कृष्ण-अर्जुन की वेष-भूषा मुगली है। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जयपुर शैली पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ना शुरू हो जाता है, जयपुर शैली के चित्र गतिमय रेखाओं से मुक्त, शान्तिप्रदायक वर्णा में अंकित है। आकृतियाँ की भरभार होते हुए भी चेहरे भावयुक्त है। मुगल प्रभाव से चित्रों में छाया, प्रकाश व परदा का मुक्त प्रयोग हुआ है। आकृतियाँ सामान्य कद की हैं। आभूषणों में मुगल प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। स्त्रियों की वेश-भूषा में भी मुगल प्रभाव स्पष्ट है। उनके अधोवस्त्र में घेरदार घाघरा ऊपर से बाँधा जाता है और पायजामा तथा छोटी ओढ़नी पहनाई जाती है, जो मुगल परम्परा के अनुकूल है। पैरों में पायजेब व जूतियाँ हैं। चेहरों को चिकनाहट और गौरवर्ण फारसी शैली के अनुकूल है। वह अपने भाव मोटे अधरों से व्यक्त करती है। पुरुष के सिर पर पगड़ी, घेरदार चुन्नटी जामा, ढ़ीली मोरी के पाजामें, पैरों में लम्बी नोक की जूतियाँ हैं।

आज भी जयपुर में हाथी-दाँत पर लघु चित्र व बारह-मासा आदि का चित्रण कर उसे निर्यात किया जाता है। भित्ति चित्रण परंपरा भी अभी अस्तित्त्व में है।

अलवर शैली

यह शैली मुगल शैली तथा जयपुर शैली का सम्मिश्रण माना जा सकता है। यह चित्र औरंगजेब के काल से लेकर बाद के मुगल कालीन सम्राटों तथा कम्पनी काल तक प्रचुर संख्या में मिलते हैं, जब औरंगजेब ने अपने दरबार से सभी कलात्मक प्रवृत्तियों का तिरस्कार करना शुरू किया तो राजस्थान की तरफ आने वाले कलाकारों का प्रथम दल अलवर में आ टिका, क्योंकि कि मुगल दरबार से यह निकटतम राज्य था। उस स्रोत में मुगल शैली का प्रभाव वैसे तो पहले से ही था, पर इस स्थिति में यह प्रभाव और भी बढ़ गया।

इस शैली में राजपूती वैभव, विलासिता, रामलीला, शिव आदि का अंकन हुआ है। नर्तकियों के थिरकन से युक्त चित्र बहुतायक में निर्मित हुए। मुख्य रूप से चित्रण कार्य स्क्रोल व हाथी-दाँत की पट्टियों पर हुआ। कुछ विद्धानों ने उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त कुछ अन्य शैलियों के भी अस्तित्त्व को स्वीकार किया है। ये शैलियाँ मुख्य तथा स्थानीय प्रभाव के कारण मुख्य शैलियाँ से कुछ अलग पहचान बनाती है।

आमेर शैली

अन्य देशी रियासतों से आमेर का इतिहास अलग रहा है। यहाँ की चित्रकारी में तुर्की तथा मुगल प्रभाव अधिक दीखते हैं, जो इसे एक स्वतंत्र स्थान देती है।

उशियारा शैली

अपनी आँखों की खास बनावट के कारण यह शैली जयपुर शैली से थोड़ी अलग है। इसमें आँखे इस तरह बनाई जाती थी मानो उसे तस्वीर पर जमा कर बनाया गया हो।

डूंगरपुर उपशैली

इस शैली में पुरुषों के चेहरे मेवाड़ शैली से बिल्कुल भिन्न है और पंगड़ी का बन्धेज भी अटपटी से मेल नहीं खाता। स्त्रियों की वेष-भूषा में भी बागड़ीपन है।

देवगढ़ उपशैली

देवगढ़ में बड़ी संख्या में ऐसे चित्र मिले हैं, जिनमें मारवाड़ी और मेवाड़ी कलमों का समावेश है। यह भिन्नता विशेषत: भौगोलिक स्थिति के कारण देखी गई है।

भारतीय चित्रकला में राजस्थानी चित्रकला का विशिष्ट स्थान है, उसका अपना एक अलग स्वरूप है। यहाँ की इस सम्पन्न चित्रकला के तरफ हमारा ध्यान सर्वप्रथम प्रसिद्ध कलाविद् आनन्दकंटका कुमारस्वामी ने अपनी पुस्तक ठराजपूत पेन्टिग' के माध्यम से दिलाया। कुछ उपलब्ध चित्रों के आधार पर कुमारस्वामी तथा ब्राउन जैसे–विद्वानों ने यह धारणा बनाई कि राजस्थानी शैली, राजपूत शैली है तथा नाथद्वारा शैली के चित्र उदयपुर शैली के हैं। परिणामस्वरूप राजस्थानी शैली का स्वतंत्र अस्तित्त्व बहुत दिनों तक स्वीकार नहीं किया जा सका। इसके अलावा खंडालवाला की रचना 'लीवस फ्राम राजस्थान (मार्ग, भाग-R/, संख्या 3, 1952) ने पहली बार विद्धानों का ध्यान यहाँ की चित्रकला की उन खास पहलुओं की तरफ खींचा जो इन पर स्पष्ट मुगल प्रभावों को दर्शाता है।

वास्तव में राजस्थानी शैली, जिसे शुरू में राजपूत शैली के रूप में जाना गया, का प्रादुर्भाव 15 वीं शती में अपभ्रंश शैली से हुआ। समयान्तर में विद्धानों की गवेषणाओं से राजस्थानी शैली के ये चित्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगे।

इन चित्रकृतियों पर किसी एक वर्ग विशेष का समष्टि रूप में प्रभाव पड़ना व्यवहारिक नहीं जान पड़ता। धीरे-धीरे यह बात प्रमाणित होती गई कि राजस्थानी शैली को राजपूत शैली में समावेशित नहीं किया जा सकता, वरन इसके अन्तर्गत अनेक शैलियों का समन्वय किया जा सकता है। धीरे-धीरे राजस्थानी चित्रकला की एक शैली के बाद दूसरी शैली अपने कुछ क्षेत्रीय प्रभावों व उनपर मुगलों के आंशिक प्रभावों को लिए, स्वतंत्र रूप से अपना पहचान बनाने में सफल हो गयी। इनको हम विभिन्न नामों जैसे–मेवाड़ शैली, मारवाड़ शैली, बूंदी शैली, किशनगढ़ शैली, जयपुर शैली, अलवर शैली, कोटा शैली, बीकानेर शैली, नाथ द्वारा शैली आदि के रूप में जाना जाता है। उधियारा तथा आमेर की उपशैलियाँ भी अस्तित्त्व में आयी जो उसी क्षेत्र की प्रचलित शैलियों का रुपान्तर है।

राजस्थानी चित्रशैलियाँ

राजस्थानी चित्रशैली का पहला वैज्ञानिक विभाजन आनन्द कुमार स्वामी ने किया था। उन्होंने 1916 में 'राजपूत पेन्टिंग' नामक पुस्तक लिखी। उन्होंने

राजपूत पेन्टिंग में पहाड़ी चित्रशैली को भी शामिल किया, परन्तु अब व्यवहार में राजपूत शैली के अन्तर्गत केवल राजस्थान की चित्रकला को ही स्वीकार करते हैं। वस्तुतः राजस्थानी चित्रकला से तात्पर्य उस चित्रकला से है, जो इस प्रान्त की धरोहर है और पूर्व में राजपूताना में प्रचलित थी।

राजस्थान चित्रशैली का क्षेत्र अत्यन्त समृद्ध है। उसकी समृद्धि के अनेक केन्द्र हैं। यह राजस्थान के व्यापक भू-भाग में फैली हुई है। राजस्थानी चित्रकला की जन्मभूमि मेदपाट (मेवाड़) है, जिसने अजन्ता चित्रण परम्परा को आगे बढ़ाया। राजस्थानी चित्रकला की प्रारम्भिक परम्परा के अनेक सचित्र ग्रन्थ, लघु चित्र एवं भित्ति चित्र उपलब्ध होते हैं, जो उसके उद्‌भव को रेखांकित करने में सहायक हैं।

राजस्थानी चित्रकला पर प्रारम्भ में जैन शैली, गुजरात शैली और अपभ्रंश शैली का प्रभाव बना रहा, किन्तु बाद में राजस्थान की चित्रशैली मुगल काल से समन्वय स्थापित कर परिमार्जित होने लगी।

सत्रहवीं शताब्दी से मुगल साम्राज्य के प्रसार और राजपूतों के साथ बढ़ते राजनीतिक और वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप राजपूत चित्रकला पर मुगल शैली का प्रभाव बढ़ने लगा। कतिपय विद्वान 17वीं शताब्दी और 18वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल को राजस्थानी चित्रकला का स्वर्णयुग मानते हैं। आगे चलकर अंग्रेजों के बढ़ते राजनीतिक प्रभाव एवं लड़खड़ाती आर्थिक दशा से राजस्थानी चित्रकला को आघात लगा। फिर भी, कला किसी न किसी रूप में जीवित रही।

राजस्थानी चित्रशैलियों का वर्गीकरण

भौगोलिक एवं सांस्कृतिक आधार पर राजस्थानी चित्रकला को हम चार शैलियों (स्कूल) में विभक्त कर सकते हैं, एक शैली में एक से अधिक उपशैलियाँ हैं-जैसा कि आगे दर्शाया गया है-

(1) मेवाड़ शैली-चावंड, उदयपुर, नाथद्वारा, देवगढ़ आदि।

(2) मारवाड़ शैली-जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़ आदि।

(3) हाड़ौती शैली-बूँदी, कोटा आदि।

(4) ढूँढ़ाड़ शैली-आम्बेर, जयपुर, अलवर, उधियारा, शेखावटी आदि।

विभिन्न शैलियों एवं उपशैलियों में परिपोषित राजस्थानी चित्रकला निश्चय ही भारतीय चित्रकला में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अन्य शैलियों से प्रभावित होने के उपरान्त भी राजस्थानी चित्रकला की मौलिक अस्मिता है।

विशेषताएँ

1. लोक जीवन का सान्निध्य, भाव प्रवणता का प्राचुर्य, विषय-वस्तु का वैविध्य, वर्ण वैविध्य, प्रकृति परिवेश देश काल के अनुरूप आदि विशेषताओं के आधार पर इसकी अपनी पहचान है।
2. धार्मिक और सांस्कृतिक स्थलों में पोषित चित्रकला में लोक जीवन की भावनाओं का बाहुल्य, भक्ति और शृंगार का सजीव चित्रण तथा चटकीले, चमकदार और दीप्तियुक्त रंगों का संयोजन विशेष रूप से देखा जा सकता है।
3. राजस्थान की चित्रकला यहाँ के महलों, किलों, मंदिरो और हवेलियों में अधिक दिखाई देती है।
4. राजस्थानी चित्रकारों ने विभिन्न ऋतुओं का शृंगारिक चित्रण कर उनका मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का अंकन किया है।
5. मुगल काल से प्रभावित राजस्थानी चित्रकला में राजकीय तड़क-भड़क, विलासिता, अन्त:पुर के दृश्य एवं झीने वस्त्रों का प्रदर्शन विशेष रूप से देखने को मिलता है।
6. चित्र संयोजन में समग्रता के दर्शन होते हैं। चित्र में अंकित सभी वस्तुएँ विषय से सम्बन्धित रहती है और उसका अनिवार्य महत्त्व रहता है। इस प्रकार इन चित्रों में विषय-वस्तु एवं वातावरण का सन्तुलन बना रहता है। मुख्य आकृति एवं पृष्ठभूमि की समान महत्ता रहती है।
7. राजस्थानी चित्रकला में प्रकृति का मानवीकरण देखने को मिलता है। कलाकारों ने प्रकृति को जड़ न मानकर मानवीय सुख-दु:ख से रागात्मक सम्बन्ध रखने वाली चेतन सत्ता माना है। चित्र में, जो भाव नायक के मन में रहता है, उसी के अनुरूप प्रकृति को भी प्रतिबिम्बित किया गया है।
8. मध्यकालीन राजस्थानी चित्रकला का कलेवर प्राकृतिक सौन्दर्य के आँचल में रहने के कारण अधिक मनोरम हो गया है।
9. मुगल दरबार की अपेक्षा राजस्थान के चित्रकारों को अधिक स्वतन्त्रता थी। यही कारण था कि राजस्थानी चित्रकला में आम जन जीवन तथा लोक विश्वासों को अधिक अभिव्यक्ति मिली।
10. नारी सौन्दर्य को चित्रित करने में राजस्थानी चित्रशैली के कलाकारों ने विशेष सजगता दिखाई है।

मेवाड़ शैली

राजस्थानी चित्रशैली में मेवाड़ शैली के अन्तर्गत पोथी ग्रंथों का अधिक चित्रण हुआ है। प्रारम्भिक चित्रित नमूनों में श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णी, सुपार्श्वनाथचरितम् हैं। महाराणा कुम्भा के समय कला की उल्लेखनीय प्रगति हुई। महाराणा प्रताप के समय छप्पन की पहाड़ियों में स्थित राजधानी चावण्ड में भी चित्रकला का विकास हुआ। इस काल की प्रसिद्ध कृति ढोलामा: (1592 ई.) है, जो राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में सुरक्षित है। महाराणा अमरसिंह के समय का 1605 ई. में चित्रित 'रागमाला' मेवाड़ शैली का प्रमुख ग्रन्थ है। इन चित्रों को निसारदीन नामक चित्रकार ने चित्रित किया। इन चित्रों में भारत की पन्द्रहवीं शताब्दी तक विकसित होने वाली पश्चिमी चित्रंकन शैली के अवशेषों के दर्शन होते हैं। चित्रकला की दृष्टि से महाराणा जगतसिंह प्रथम का काल स्वर्णयुग कहलाता है। इस समय साहबदीन कलाकार ने महाराणाओं के व्यक्ति चित्र बनाये। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक मेवाड़ शैली में बड़ा निखार आया। जगतसिंह प्रथम के समय राजमहल में 'चितेरों की ओवरी' नाम से कला विद्यालय स्थापित किया गया। इसे 'तस्वीरो कारखानों' नाम से भी पुकारा जाता था। मेवाड़ शैली राजस्थानी चित्रकला की मूल शैली रही है, मेवाड़ शैली में शिकार के दृश्यों में त्रिआयामी प्रभाव दर्शाया गया है।

नाथद्वारा शैली में श्रीनाथजी आकर्षण के प्रमुख केन्द्र हैं, अत: यहाँ श्रीनाथजी की विभिन्न झांकियों के चित्र विशेष रूप से बनाये गये हैं। श्रीनाथजी को यहाँ श्रीकृष्ण का प्रतीक मानकर पूजा की जाती है। इसी कारण विविध कृष्ण लीलाओं को चित्रों में अंकित करने की प्रथा यहाँ प्रचलित हुई है। मेवाड़ के अन्तर्गत नाथद्वारा में पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय की भारत प्रसिद्ध प्रमुख पीठ है, जो श्रीनाथजी की भक्ति का प्रमुख केन्द्र होने के कारण मेवाड़ की चित्र परम्परा में नया इतिहास जोड़ता है। श्रीनाथजी के स्वरूप के पीछे बड़े आकार के कपड़े पर जो पर्दे बनाये जाते हैं, उन्हें पिछवाई कहते हैं, जो नाथद्वारा शैली की मौलिक देन है। वर्तमान में इस शैली में श्रीनाथ जी के प्राकट्य एवं लीलाओं से सम्बन्धित असंख्य चित्र व्यावसायिक दृष्टि से कागज और कपड़े पर बनने लगे हैं। इस शैली की पृष्ठभूमि में सघन वनस्पति दर्शायी गयी है, केले के वृक्ष की प्रधानता है। अठारहवीं शताब्दी में बने नाथद्वारा शैली के चित्रों में अधिक कलात्मकता है, परन्तु बाद के चित्रों में व्यावसायिकता का अधिक पुट आ गया है।

जब महाराणा जयसिंह के राज्यकाल में रावत द्वारिका दास चूँडावत ने देवगढ़ ठिकाना 1680 ई. में स्थापित किया, तदुपरान्त, देवगढ़ शैली का जन्म हुआ। यहाँ के रावत 'सौलहवें उमराव' कहलाते थे, जिन्हें प्रारम्भ से ही चित्रकला में गहरी अभिरुचि थी। इस शैली में शिकार, हाथियों की लड़ाई, राजदरबार का दृश्य, कृष्ण-लीला आदि के चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस शैली के भित्ति चित्र 'अजारा की ओबरी' 'मोती महल', आदि में देखने को मिलते हैं। इस शैली को मारवाड़, ढूँढाड़ एवं मेवाड़ की समन्वित शैली के रूप में देखा जाता है। इस शैली में हरे, पीले रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है।

मारवाड़ शैली

मारवाड़ शैली के विषय मूलरूप में अन्य शैलियों से भिन्न हैं। यहाँ मारवाड़ी साहित्य के प्रेमाख्यान पर आधारित चित्रण अधिक हुआ है। इस चित्र शैली में प्रेमाख्यानों के नायक-नायिकाओं के भाव-भंगिमाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। बारहमासा चित्रण तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश में नायक-नायिका के मनोभावों का सफल उद्घाटन करते हैं। मारवाड़ शैली में लाल, पीले रंग का बाहुल्य है। हाशिये में भी पीले रंग का प्रयोग किया गया है। वीरजी चित्रकार द्वारा 1623 ई. में निर्मित 'रागमाला चित्रवली' का ऐतिहासिक महत्त्व है, जोधपुर शैली में एक मोड़ महाराजा जसवन्तसिंह के समय में आया। कृष्ण चरित्र की विविधता और मुगल शैली का प्रभाव इस समय के चित्रों में दृष्टव्य है। उन्नीसवीं शताब्दी में मारवाड़ नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित रहा, अतः राजा मानसिंह के समय चित्रकला मठों में परिपोषित हुई।

मारवाड़ शैली के अन्तर्गत बीकानेर शैली का प्रादुर्भाव सोलहवीं शताब्दी के अन्त से माना जाता है। बीकानेर शैली के उद्भव का श्रेय यहाँ के उस्ताओं को दिया जाता है। निरन्तर अभ्यास व कला-कौशल के कारण इन मुस्लिम कलाकारों को उस्ताद कहकर सम्बोधित किया जाता था। कालान्तर में इन उस्तादों को उस्ता कहा जाने लगा। इन्होंने 'उस्ता कला' को जन्म दिया। ऊँट की खाल पर सोने का चित्रण 'उस्ता कला' कहलाती है। यह बीकानेर कला की एक अनोखी विशेषता है। अकबर ने स्वयं अपने दरबार में इन उस्ता कलाकारों को सम्मानजनक स्थान प्रदान किया। महाराजा अनूपसिंह के काल में विशुद्ध बीकानेर शैली के दिग्दर्शन होते हैं। इस काल में रसिक प्रिया, बारहमासा, भागवत

पुराण से सम्बन्धित चित्र तैयार हुए। बीकानेर शैली में मुगल शैली एवं दक्कन शैली का समन्वय है।

राजस्थानी चित्रकला में किशनगढ़ शैली का विशिष्ट स्थान है। इस शैली पर वल्लभ सम्प्रदाय का अत्यधिक प्रभाव है। सावन्तसिंह उर्फ नागरीदास के शासनकाल से इस शैली को स्वतन्त्र स्वरूप प्राप्त हुआ। नागरीदास के काव्य प्रेम, गायन, बणीगणी के संगीत प्रेम और कलाकार मोरध्वज निहालचंद के चित्रंकन ने किशनगढ़ की कला को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। इस शैली का प्रमुख चित्र बणीगणी हैं। नारी सौन्दर्य इस शैली की प्रमुख विशेषता है। राधा- कृष्ण की प्रेम लीला इस शैली का लक्षण है। काम और आध्यात्मिक प्रेम ने किशनगढ़ शैली की चित्रकला को जीवनदान दिया।

11

राजपूत चित्रकला

1. राजपूत चित्रकला में मेवाड़, बूँदी, मालवा आदि उल्लेखनीय हैं। इन राज्यों में विशिष्ट प्रकार की चित्रकला शैली का विकास हुआ।
2. मुगल काल के अंतिम दिनों में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक राजपूत राज्यों की उत्पत्ति हो गई।
3. इन विभिन्न शैलियों में कुछ विशेषताएँ, उभयनिष्ट दिखाई दीं, जिसके आधार पर उन्हें 'राजपूत' शैली नाम प्रदान किया गया।
4. चित्रकला की यह शैली काफी प्राचीन प्रतीत होती है, किंतु इसका वास्तविक स्वरूप 15वीं शताब्दी के बाद ही प्राप्त होता है।
5. यह वास्तव में राजदरबारों से प्रभावित शैली है, जिसके विकास में कन्नौज, बुन्देलखण्ड तथा चन्देल राजाओं का सराहनीय योगदान रहा है।
6. राजपूत चित्रकला शैली विशुद्ध हिन्दू परम्पराओं पर आधारित है।
7. राजपूत चित्रकला शैली का विकास कई शाखाओं के रूप में हुआ है, जिनका विवरण निम्न है।

मेवाड़ शैली

मेवाड़ शैली राजस्थानी जनजीवन व धर्म का जीता जागता स्वरूप प्रस्तुत करती है। इतिहासवेत्ता तारकनाथ ने 7वीं शताब्दी में मारवाड़ के प्रसिद्ध चित्रकार श्रीरंगधर को इसका संस्थापक माना है, लेकिन उनके तत्कालीन चित्र उपलब्ध

नहीं है। 'रागमाला' के चित्र 16वीं शताब्दी में महाराणा प्रताप की राजधानी चावण्ड में बनाये गये, जिसमें लोककला का प्रभाव तथा मेवाड़ शैली के स्वरूप चित्रित हैं। रागमाला चित्रवली दिल्ली के संग्रहालय में सुरक्षित है। कुम्भलगढ़ के दुर्ग तथा चित्तौड़गढ़ के भवनों में कुछ भित्ति चित्र भी अस्पष्ट व धुंधले रूप में देखने को मिलते हैं।

वल्लभ संप्रदाय के राजस्थान में प्रभावी हो जाने के कारण राधा-कृष्ण की लीलाएँ मेवाड़ शैली की मुख्य विषय-वस्तु हैं। मेवाड़ शैली के रंगों में पीला, लाल तथा केसरिया प्रमुख हैं। पृष्ठभूमि या तो एक रंग में सपाट है अथवा आकृतियों के विरोधी रंगों का प्रयोग किया गया है। प्रारम्भिक मेवाड़ शैली में जैन व गुजरात की चित्रकलाओं का मिश्रण दृष्टिगोचर होता है तथा लोक कला की रुक्षता, मोटापन, रेखाओं का भारीपन इस की विशेषताएँ रही है।

17वीं शताब्दी के मध्य में इस शैली का एक स्वतंत्र स्वरूप रहा। मानवाकृतियों में अण्डकार चेहरे, लम्बी नुकीली नासिका, मीन नयन तथा आकृतियाँ छोटे कद की हैं। पुरुषों के वस्त्रों में जामा, पटका तथा पगड़ी और स्त्रियों ने चोली, पारदर्शी ओढ़नी, बूटेदार अथवा सादा लहंगा पहना है। बाहों तथा कमर में काले फुंदने अंकित हैं। प्राकृतिक दृश्य चित्रण अलंकृत हैं। 'रागमाला' के चित्रों में कृष्ण तथा गोपियों की लीलाओं में शृंगार रस का चित्रण अत्यंत सजीव हुआ है।

मेवाड़ शैली 18 वीं से लेकर 19 वीं सदी तक अस्तित्त्व में रही, जिसमें अनेक कलाकृतियाँ चित्रित की गई। इन कलाकृतियों में शासक के जीवन और व्यक्तित्त्व का अधिक चित्रण किया जाने लगा, लेकिन धार्मिक विषय लोकप्रिय बने रहे।

जयपुर शैली

जयपुर शैली का युग 1600 से 1900 तक माना जाता है, जयपुर शैली के अनेक चित्र शेखावाटी में 18 वीं शताब्दी के मध्य व उत्तरार्ध में भित्ति चित्रों के रूप में बने हैं। इसके अतिरिक्त सीकर, नवलगढ़, रामगढ़, मुकुन्दगढ़, झुंझुनू इत्यादि स्थानों पर भी इस शैली के भित्ति चित्र प्राप्त होते हैं।

जयपुर शैली के चित्रों में भक्ति तथा शृंगार का सुन्दर समवय मिलता है। कृष्ण लीला, राग-रागिनी, रासलीला के अतिरिक्त शिकार तथा हाथियों की लड़ाई के अद्‌भुत चित्र बनाये गये हैं। विस्तृत मैदान, वृक्ष, मन्दिर के शिखर,

अश्वारोही आदि प्रथानुरूप ही मीनारों व विस्तृत शैलमालाओं का खुलकर चित्रण हुआ है, जयपुर के कलाकार उद्यान चित्रण में भी अत्यंत दक्ष थे। उद्योगों में भांति-भांति के वृक्षों, पक्षियों तथा बन्दरों का सुन्दर चित्रण किया गया है।

मानवाकृतियों में स्त्रियों के चेहरे गोल बनाये गये हैं। आकृतियाँ मध्यम हैं। मीन नयन, भारी, होंठ, मांसल चिबुक, भरा गठा हुआ शरीर चित्रित किया गया है। नारी पात्रों को चोली, कुर्ती, दुपट्टा, गहरे रंग का घेरादार लहंगा तथा कहीं-कहीं जूती पहने चित्रित किया गया है। पतली कमर, नितम्ब तक झूलती वेणी, पांवों में पायजेब, माथे पर टीका, कानों में बालियाँ, मोती के झुमके, हार, हंसली, बाजुओं में बाजूबन्द, हाथों में चूड़ी आदि आभूषण मुगल प्रभाव से युक्त हैं।

स्त्रियों की भांति पुरुषों को भी वस्त्रभूषणों से सुजज्जित किया गया है। पुरुषों को कलंगी लगी पगड़ी, कुर्ता, जामा, अंगरखा, ढोली मोरी का पायजामा, कमरबन्द, पटका तथा नोकदार जूता पहने चित्रित किया गया है।

जयपुर शैली के चित्रों में हरा रंग प्रमुख है। हासिये लाल रंग से भरे गये हैं, जिनको बेलबूटों से सजाया गया है। लाल, पीला, नीला, तथा सुनहरे रंगों का बाहुल्य है।

बीकानेर शैली

मारवाड़ शैली से सम्बन्धित बीकानेर शैली का सर्वाधिक विकास अनूप सिंह के शासन काल में हुआ। रामलाल, अली रजा, हसन रजा, रूकनुद्दीन आदि इस शैली के उल्लेखनीय कलाकार थे। इस शैली पर पंजाबी शैली का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि बीकानेर क्षेत्र उत्तर में पंजाब के समीप ही स्थित है। यहाँ के शासकों की नियुक्ति दक्षिण में होने के कारण इस शैली पर दक्खिनी शैली का भी प्रभाव पड़ा है। इस शैली की सबसे प्रमुख विशेषता है मुस्लिम कलाकारों द्वारा हिन्दू धर्म से सम्बन्धित एवं पौराणिक विषयों पर चित्रांकन करना।

मालवा शैली

मालवा शैली की चित्रकला में वास्तुशिल्पीय दृश्यों की ओर झुकाव, सावधानीपूर्वक तैयार की गयी सपाट किंतु सुव्यवस्थित संरचना, श्रेष्ठ प्रारूपण, शोभा हेतु प्राकृतिक दृश्यों का सृजन तथा रूपों को उभारने के लिए एक रंग के धब्बों का सुनियोजित उपयोग दर्शनीय है।

स्त्री-पुरुष दोनों का चित्रण तंवगी रूप में लघुमुख एवं आयतलोचनमय रूप में किया गया है। माधोदास रचित 'रंगमाला' के दृश्य इस शैली के अनुपम उदाहरण हैं।

किशनगढ़ शैली

राजस्थान की किशनगढ़ चित्रकला शैली अपने श्रृंगारिक चित्रों के लिए सम्पूर्ण भारत में जानी जाती है। किशनगढ़ के राजा सामंतसिंह, श्रृंगारप्रिय व अच्छे साहित्यकार थे, जो नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी प्रेमिका 'बनी-ठनी' राधा का सौन्दर्य इनके काव्य पर आधारित है। किशनगढ़ शैली पर मुगलकला का भी प्रभाव पड़ा था।

किशनगढ़ कला का भारतीय लघुकला में अद्वितीय स्थान है। नारी चित्रण विशेष रूप से सुन्दर बने हैं। स्त्रियों के चेहरे कोमल हैं। कहीं भी भारीपन नहीं है। शरीर लताओं के समान पतला, लचकदार व छरहरा चित्रित किया गया है। स्त्री-पुरुष अनेकानेक आभूषणों से सज्जित हैं।

प्रकृति-चित्रण में लता-वृक्ष आदि को प्रेमी-प्रेमिका की मनोदशा के प्रतीकात्मक रूप में चित्रि किया गया है। गोवद्धान-धारण चित्र में अनेक आकृतियाँ बनायी गयी हैं। चित्रों में काले, सफेद, नीले तथा हरे रंगों की प्रधानता है। पीला तथा लाल रंग संतुलित रूप में प्रयोग किए गए हैं।

किशनगढ़ शैली के चित्रों में भावाभिव्यक्ति की गहराई अद्‌भुत है, इस शैली के प्रमुख कलाकार अमीरचन्द, छोटू, भवानीदास, निहालचन्द, सीताराम आदि हैं। यह शैली दरबार तक सीमित रही फिर भी अनेक विषयों का चित्रण हुआ जैसे- राधा-कृष्ण की प्रणयलीला, नायिका-भेद, गीत गोविन्द, भागवतपुराण, बिहारी चन्द्रिका आदि।

राजस्थानी चित्रकला सामान्य स्टाइलिस्ट विशेषताएं

विशेषता तेज और सरल है। यह स्वयं को एक निश्चित schematism और मजबूत स्टाइलिजेशन की अनुमति देता है, जो विभिन्न ग्राफिक प्रभावों को सुसंगत बनाता है। देवताओं, मनुष्यों या जानवरों के शरीर के लिए, नरम वक्र रूपों को उजागर करता है और मुगल चित्रकला के रूप में विस्तार के बिना अनुपात का सम्मान करता है।

शहरो और अन्य इमारतों को सामने के विचारों से उजागर किया जाता है, जो नियम के लिए खोजे जाते हैं। कुछ छतो और घाटी जो कैवेलियर परिप्रेक्ष्य में दिखाई दे सकते हैं।

शरीर की मात्रा अंधेरे से हल्के या तीव्र प्रकाश से थोड़ी सी दूरी से उत्पन्न होती है, लेकिन ठोस आयताकार का उपयोग सभी राजपूत स्कूलों में चालू रहता है। दराज और सजावटी आकृतियां जो उन्हें कवर करती हैं, वे सावधानीपूर्वक पुनरावृत्ति और स्पैक्सिंग की पूर्ण नियमितता का पक्ष लेती हैं। पौधे, पत्ते और फूल, उन आधारों को यौगिक करने का अवसर हैं, जहां प्रकृति को स्टाइलिज्ड किया जाता है और अक्सर पुनर्निर्मित किया जाता है।

स्कूलों

16 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, राजपूत कला स्कूलों ने स्वदेशी और विदेशी प्रभाव जैसे–फारसी, मुगल, चीनी और यूरोपीय जैसे–संयोजनों को विशिष्ट शैलियों का विकास करना शुरू किया। राजस्थानी पेंटिंग में चार प्रमुख विद्यालय शामिल हैं, जिनमें उनके भीतर कई कलात्मक शैलियो और सबस्कूल हैं, जिन्हें विभिन्न रियासतों के लिए खोजा जा सकता है, जो इन कलाकारों को संरक्षित करते हैं। चार प्रमुख स्कूल हैं–

मेवार स्कूल जिसमें चित्रण के चावंद, नाथद्वारा, देवगढ़, उदयपुर और सावर शैलियों शामिल हैं।

मारवार स्कूल जिसमें किशनगढ़, बीकानेर, जोधपुर, नागौर, पाली और घनेराओ शैलियों शामिल हैं।

कोटा, बुंदी और झलवार शैलियों के साथ हडोटी स्कूल और

एम्बर, जयपुर, शेखावती और यूनिरा चित्रकला के धुंधर स्कूल।

कला के कंगड़ा और कुल्लू स्कूल भी राजपूत चित्रकला का हिस्सा हैं। नन्हाख पहारी चित्रकला का एक प्रसिद्ध कलाकार है, जो राजपूत राजकुमारों के लिए काम कर रहा है, जिन्होंने तब तक उत्तर में शासन किया था।

वाणिज्यिक समुदाय की आर्थिक समृद्धि और "वैष्णववाद" के पुनरुत्थान और भक्ति कल्चर की वृद्धि प्रमुख कारक थे, जिन्होंने राजस्थानी चित्रों के विकास में काफी योगदान दिया। शुरुआत में इस शैली को रामानुजा, मीराबाई, तुलसीदास, श्री चैतन्य, कबीर और रामानंद जैसे–धार्मिक अनुयायियों से बहुत प्रभावित था।

सभी राजपूताना मुगलों के हमले से प्रभावित थे, लेकिन मेवार आखिरी तक उनके नियंत्रण में नहीं आए थे। यही कारण है कि राजस्थानी स्कूल मेवार, (शुद्धतम रूप और बाद में), जयपुर, जोधपुर, बुंदी, कोटा–कलाम, किशनगढ़, बीकानेर और राजस्थान के अन्य स्थानों में पहले उग आया।

सामग्री और उपकरण

राजपूत लघु पत्र कागज पर लिखा गया था। मुस्लिम देशों में पेपर उत्पादन आठवीं सदी से चीनी द्वारा अपनाया गया था। सबसे अच्छा पेपर उत्पादन केंद्रों में से एक समरकंद था। भारत में, पेपर बांस, जूट, रेशम फाइबर और कपड़ा रैग से बनाया गया था। कलात्मक स्थितियों के तहत भारत में पेपर उत्पादन की तकनीक को स्पष्ट रूप से मानकीकृत नहीं किया जा सकता था, इसलिए यह विभिन्न गुणवत्ता की थी, इसकी मोटाई और बनावट भिन्न थी।

प्राकृतिक रंगों का उपयोग करने वाले चित्रकार, जिन्हें दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है–जिन्हें चॉक (सफेद), लाल ओचर, सिएना (पीले रंग के रंग), ऑक्साइड और तांबा (हरा), अल्ट्रामारिन और लाइपिस–लाजुराइट के सल्फेट्स जैसे–अतिरिक्त प्रसंस्करण की आवश्यकता नहीं होती है (नीला)–पर्याप्त था कि उन्हें पीसकर पानी में कुल्लाएं–वर्णक तैयार था। एक और श्रेणी उन रंगों से संबंधित है, जिनके लिए रासायनिक उपचार की आवश्यकता होती है–लीड व्हाइट (एसिटिक एसिड में भिगोने से लीड), कोयले काली (लकड़ी को जलाने से उत्पादित), सिन्नबार, जो पारा और सल्फर से तैयार किया गया था, नीली वर्णक एक इंडिगो प्लांट, कारमाइन से निकाला गया था, कोचिनल (विशेष कीड़े), आदि से निकाली गई एक लाल कार्बनिक डाई, यदि आवश्यक हो, तो वांछित छाया प्राप्त करने के लिए रंग मिश्रित किए गए थे। लघुचित्रों को पूरा करने के लिए सोने और चांदी का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। पेपर पर स्याही को दृढ़ता से ठीक करने के लिए, इसमें विभिन्न सब्जी मसूड़ों (मसूड़ों) और दूधिया पौधे के रस जोड़े गए थे।

लघुचित्र बनाने की तकनीक निम्नानुसार थी। पेपर को पहले पत्थर बार के साथ चिकना कर दिया गया था। फिर एक प्रारंभिक ड्राइंग (आमतौर पर एक भूरे रंग का पेंट) ब्रश और स्याही के साथ लागू किया गया था, जिसे सफेद की पतली परत से ढंकने के लिए कवर किया गया था और इसे समाप्त तस्वीर में लगभग अदृश्य बना दिया गया था। उसके बाद, रंग लागू किए गए थे। उन्हें परतों

में लागू किया गया था, जिनमें से प्रत्येक पॉलिश और ट्रिटुरेटेड था (इसके लिए, एक तस्वीर को एक चिकनी सतह पर रखा गया था, जिसमें एक तस्वीर नीचे थी और मुलायम पॉलिशिंग पत्थर के ब्लॉक के साथ रगड़ गई थी)।

सामान्य रूप से, फारसी मॉडल के अनुसार लघुचित्रों के उत्पादन और राजपूत कार्यशालाओं के काम के लिए तकनीक का आयोजन किया गया था। चूंकि कई राजपूत राजकुमार छोटे थे, इसलिए कर्मियों की संख्या से इन कार्यशालाओं की तुलना फारसी शाह और मुगल सम्राटों के किटभाने (हालांकि कुछ राजकुमारों के पास कुछ दर्जन कलाकार थे) की तुलना नहीं की जा सकती थी। उनमें कामों का एक सेट मानक था: दैनिक प्रक्रिया के रूप में लघुचित्रों के संपादन और मरम्मत का उल्लेख, जीवित जानकारी के अनुसार, राजपूत कार्यशालाओं में मास्टर (उदादा) के मार्गदर्शन में मूल कार्यों की प्रतियां भी बनाई गई थीं।

थीमैटिक प्रदर्शन

कृष्णा-लीला

राजपूत कलाकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष साहित्य था। अक्सर भारतीय पुराणों (प्राचीन कहानियों के संग्रह) के विषय–महाभारत और रामायण के प्रसिद्ध महाकाव्य।

मध्ययुगीन भारत में, भगवत पुराण पुस्तक द्वारा एक महान भूमिका निभाई गई, जिसने भगवान विष्णु–विष्णुवाद की एक शक्तिशाली पंथ के गठन के आधार के रूप में कार्य किया। पुस्तक में किंवदंतियों में शामिल हैं, जो विष्णु को उनके अवतार के रूप में महिमा देते हैं–भगवान कृष्ण। दसवीं किताब, भागवत पुराण का पहला भाग, अपने बचपन की चाल और प्रेम कहानियों को समर्पित है। एक और काम, रसपंच धाया, कृष्णा की मिथक को पूरी तरह से अलग ध्वनि देता है, जिसमें कृष्णा के नृत्य और प्रेम खेलों का वर्णन होता है–पतझड़ के चंद्रमाओं के प्रभु। इन दिव्य प्रेम खेलों का अनुक्रम, फ्लर्टिंग और संबंधित कृष्णा के उद्यमों को "लीला" शब्द से दर्शाया गया है। 16 वीं शताब्दी के बाद से "कृष्ण-लीला" की कहानियां राजपूत कलाकारों के लिए पसंदीदा थीम थीं।

समय के साथ, कृष्ण के आस-पास की किंवदंतियो और कहानियां बढ़ीं, वह भक्ति की पंथ का मुख्य व्यक्ति बन गया। उत्तरी भारत में, भक्ति की पंथ वल्लभाचार्य, चैतन्य, जयदेव और मिराबे, कवियों के काव्य भजनों के कारण एक शक्तिशाली उत्साह प्राप्त हुई, जिन्हें अंतत: विष्णु संतों के रूप में पहचाना गया। कृष्णा को समर्पित महत्त्वपूर्ण काव्य कार्य जयदेव के "गीतागोविंदा" हैं, अंधे कवि सूरदास के "शूरगर", कवि बिहारी, "मतीराम" रसराज और "रसिकप्रिया" केशवदास के "सत्साई" हैं। कृष्णा का आंकड़ा न केवल साहित्य में बल्कि कला के अन्य रूपों में भी प्रभावशाली बन गया। वह राजपूत चित्रकला का मुख्य नायक बन गया, खासकर मेवरा, जोधपुर, किशनगढ़, जयपुर, बुंदी और कोटा में, कलाकारों को समर्पित कविताओं को चित्रित करने में प्रसन्नता हुई।

एक और स्त्रोत श्रीनागारा था–संस्कृत काव्य ग्रंथ, जो मध्य युग में कुछ हद तक मनोनीत उपस्थिति अपनाया, लेकिन बहुत लोकप्रिय था। श्रीनगर में, एक ही नायक और नायिकाएं हैं और छंद उनके प्रेम अनुभवो और भावनात्मक अवस्थाओं की पूरी श्रृंखला का वर्णन करते हैं। आनंद कुमारस्वामी, जिनकी किताबें 20 वीं शताब्दी की शुरुआत में प्रकाशित हुई, स्त्रोत ने 945 दिनों का उल्लेख नहीं किया,, राजपूत पेंटिंग के अकादमिक अध्ययन ने नोट किया: "यदि चीनी के पास प्रकृति के सार को समझने का सबसे अच्छा ज्ञान है, इसे "पर्वत-पानी" के परिदृश्य में व्यक्त करते हुए, फिर भारतीय कला, हमें कम से कम, इच्छा की प्रकृति को गलत समझने से बचने के लिए सिखा सकती है। आनंद का सार गंदे नहीं हो सकता है।"

भारत में, प्रेम संबंधों का एक प्रकार का सिद्धांत है, जिसमें प्रतीकात्मक प्रेम युगल नायक और नायक खुद को अलग-अलग पदो और प्रेम राज्यों में पाते हैं। सभी जोड़ी में यह जोड़ी एक ही कहा जाता है और मादा छवि उच्चारण होती है, जिसमें कई अलग-अलग रंग होते हैं–ध्यान से वर्गीकृत। इस शाश्वत विषय पर बहुत सारे साहित्यिक कार्यों का निर्माण हुआ। मादा प्रकारों का सबसे पुराना वर्गीकरण "नाट्य शास्त्र" (द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व–द्वितीय शताब्दी ईस्वी) से जाना जाता है। इस विषय पर सबसे मशहूर और सबसे अक्सर सचित्र पुस्तकेंरू "रस मंडारी" ("खुशी का एक गुलदस्ता")–लिखा 15 वीं शताब्दी में भानु दत्ता द्वारा संस्कृत में और "रसिकप्रिया" ("प्रशंसकों के लिए गाइड")–15 9 1 में केशवदास द्वारा हिंदी में लिखा गया, राजा वीर सिंह देव के न्यायालय कवि, ओर्चे में राजपूत रियासत के शासक, जो मान्यता में उनकी प्रतिभा ने उन्हें

इक्कीस गांवों का उपहार दिया। इस कवि को भारत में श्रीनगर साहित्य (प्रेम गीत) के संस्थापक पिता के रूप में माना जाता है।

रागमाला

लघुचित्रों के दो अन्य निकटतम विषयों "रागमाला" और "बरखमासा" थे। रागमाला का अनुवाद "मालालैंड रग" के रूप में किया जाता है। रागा शास्त्रीय भारतीय संगीत कला से एक समग्र अवधारणा है। यह एक संगीत है, जो दिन और परिस्थितियों के विशेष समय से मेल खाता है और जो एक विशेष मूड ("दौड़") बनाता है। इन विशेषताओं के संबंध में, रैग की संख्या बहुत बड़ी है। रागम हिंदू देवताओं से मेल खाता है, इसलिए इन संगीत कार्यों का उपयोग ध्यान के लिए और शब्दों के बिना प्रार्थनाओं के रूप में किया जाता है। मर्दाना (रागा) और स्त्री (रागिनी) सुगंधित प्रकार होते हैं, क्रमशः सद्भावना, साथ ही श्रोता पर अपेक्षित प्रभाव भी होते हैं। रागों के लिए सुरम्य चित्रों के रूप में, प्रेमियों की छवियों, विशेष रूप से कृष्ण और राधा में, का उपयोग किया जाता है।

रागा मिथकों का निर्माण महादेव (शिव) और उनकी पत्नी पार्वती और राघिनी के भगवान ब्रह्मा के आविष्कार के लिए जिम्मेदार है। शिव के पांच सिर थे, जिनमें से प्रत्येक ने अपने स्टू को जन्म दिया, पौराणिक कथा के अनुसार छठा स्टू अपनी पत्नी पार्वती द्वारा बनाया गया था–इसलिए एक रागमाला था, जो रागाओं का माला है। सबसे शुरुआती रागमाला को नारद्या-सिकसा कहा जाता है, यह नारद द्वारा रचित किया गया था। ई. रागा की संगीत-सैद्धांतिक अवधारणा पहली बार "ब्रधदेशी" में दिखाई देती है–संस्कृत लेखक मातंगा का काम, जो 5 वी और 7 वीं शताब्दी ईस्वी के बीच लिखा गया था। ई. आठवीं शताब्दी में, राग-सगारा बनाया गया था (दो लेखकों–नारद और दत्तिला को जिम्मेदार ठहराया गया था) और 9वी और 13 वीं सदी के बीच में "संगिता-रत्न-माला" ममता द्वारा रचित थी। रागा के विकास में, सूफीपोएट और संगीतकार अमीर खोसरोव देहलेवी, भारतीय और फारसी संगीत के सबसे बड़े गुणक द्वारा एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई गई थी। दिल्ली सुल्तान अलाउद्दीन हिल्गी (1296-1316) की अदालत में उन्होंने कई नए राग बनाए और सितार का आविष्कार किया। मुगल सम्राट अकबर (1556-1605) के कोर्ट संगीतकार तानसेन का काम कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। उन्होंने नए रागों की एक शृंखला बनाई, जिसे व्यापक रूप से "रागमाला तानसेन" के नाम से जाना जाता है।

उनके लेखन में संस्कृत लेखकों ने कलात्मक भाषा में उनका वर्णन करते हुए रैग और रागमाला की एक उल्लेखनीय प्रतीकात्मक रचना और विकसित की। सारंगदेव "संगिता-रत्नकारा" (1210-47gg) के काम में इसी प्रकार के विवरण मिल सकते हैं। बाद में, 1440 में, नारद ने छः मूल रागाओ और 30 रागिनी का वर्णन छंद बनाये, जिन्हें उनकी पुस्तक पंचमा-सारा-संहिता में शामिल किया गया था। 1450 ("संगिता-मिम्मासा", "संगितसर") और 150 9 ("रागमाला मेस्करनी") में मेजकारन के रैग लीड रण कुंभ कर्ण महिमेदरा के समान विवरण। इन विवरणों के आधार पर, राजपूत कलाकारों ने कविता और संगीत के लिए एक दृश्य रेखा बनाने, रागमाला को चित्रित लघुचित्रों की एक श्रृंखला बनाने शुरू कर दिया।

रैग की विविधता की संख्या बहुत अधिक है–यह सैग के 3500 भिन्नताओं को निष्पादित करने के लिए सैद्धांतिक रूप से संभव है, लेकिन मुख्य छः राग, जिन्हें रागापत्नीस या रागगुत्ना कहा जाता है, आमतौर पर 84 से 108 भिन्नताएं होती हैं। छह मूल राग हैं–

एक सामान्य "रागमाला" में 36 लघुचित्र होते हैं, जो एक आदमी और मौसम के मौसम और दिन के समय से जुड़े संबंधों के विभिन्न चरणों को दर्शाते हैं। रागमाला भक्ति की पंथ से जुड़ा हुआ है, जिसमें भक्त देवता के साथ ऐसे आध्यात्मिक या शारीरिक संपर्क की तलाश करता है, जैसे–कि यह एक इंसान था।

बरखमास और अन्य विषयों

बरखमास (बारह महीने, यानी, मौसम) के विषय पर चित्रों को भी श्रृंखला में किया गया था। ऋतु का सिद्धांत कृषि कैलेंडर से जुड़ा हुआ है। साथ ही, भारतीयों को आश्वस्त किया जाता है कि मौसम की लय जीवन की लय है। इस विषय पर मौसमी कविता और गाने, महिलाओं के साथ बहुत लोकप्रिय हैं, साल के हर महीने समर्पित हैं। समय आने पर गाने गाए जाते हैं। शायद, इससे पहले यह एक विशेष जादुई अभ्यास था, लेकिन सभी संभावनाओं में महिलाएं उन्हें प्यार और अलगाव के बारे में सामान्य दुःखद गीत के रूप में समझती हैं।

भारतीय कैलेंडर कई काव्य कार्यों का विषय था। बरखमासा में लोकगीत पृष्ठभूमि है, लेकिन पहले से ही प्रसिद्ध कवि कालिदास (चतुर्थ-वी शताब्दी ईस्वी), जिन्होंने संस्कृत में गुप्त युग में लिखा था, इस लोकगीत कविता का

उपयोग उनके काम "रितु संखरा" में करते हैं। 15 वीं शताब्दी में, संत और कवि, सिख धर्म गुरु नानक (1469-1538) के पहले ऋषि ने अपनी बारहमास रचित और गाया। उनके बाद, गुरु अर्जुन (1581-1606) ने "बरखमास" के छंदों को लिखा, जो सिखों की पवित्र पुस्तक "गुरु ग्रंथ साहिब" में प्रवेश करते थे, जो इसकी रहस्यमय आग्रह के लिए जाने जाते थे।

मध्ययुगीन भारत में, कई कवियों ने विभिन्न मौसमों की सुंदरता के बारे में लिखा: सेनापति, दत्ता, देव, गोविंदा, आनंदराम, नेत्रम और काशीरा, हालांकि, सबसे लोकप्रिय केशवदास (1555-1617) का काम था, जो ओर्चे में राजी वीर सिंह देव की अदालत में प्रसिद्ध कवि थे, जिन्होंने "कविप्रियास" पुस्तक के दसवें अध्याय में बारखमास के छंदों का एक हिस्सा समर्पित किया था। उन्होंने बरखास्सी के मौसमी गीतों को एक विशेष, नया अर्थ दिया। उनके गीतों की भावना अलग होने के दर्द और प्रिय के साथ आने वाली बैठक की आशा को पार करती है, जो इस दर्द को शांत कर देगी।

गीत हर महीने की विशेषताओं पर जोर देते हैं, जिसके कारण उनमें से प्रत्येक अपने तरीके से प्यार के लिए अनुकूल है। इन सुविधाओं को राम और सीता की किंवदंती के दृश्यों का उपयोग करके राजपूत चित्रकला में चित्रित किया गया है, जो जंगलों में उनके संयुक्त रहने का वर्णन करता है।

राजपूत स्वामी ने "दशवतर" विषय पर लघुचित्रों की शृंखला भी बनाई, जिसमें भगवान विष्णु के दस अवतार दर्शाए गए। उन्होंने "देवी-महात्मा" विषयों पर लघुचित्र लिखे–महान देवी की महिमा। बुराई की ताकतों के खिलाफ संघर्ष सहित उनके कई कार्यों को कई प्रभावशाली विवरणों के साथ चित्रित किया गया था। स्थानीय कवियों के कई काम, एक नियम के रूप में, धार्मिक सामग्री को चित्रित किया गया था। ये सभी पारंपरिक विषय मेवरा, बुंदी, कोटा, किशनगढ़ के सुरम्य विद्यालयो और खासकर पहाड़ी पर्वत क्षेत्र के स्कूलों के लिए बुनियादी बन गए। हालांकि, XVIII शताब्दी के दूसरे छमाही से उन्हें राजपूत राजकुमारों के जीवन और अवकाश से संबंधित विषयों द्वारा दबाया गया था, कुछ कलाकार अपने शासक के बहुत करीब थे कि उनके काम कारतूस के जीवन की एक वृत्तचित्र क्रॉनिकल की तरह बन गए। विशेष रूप से लोकप्रिय रियासत शिकार की छवियां थीं, जो उन दिनों में खेल और राज्य अनुष्ठान का मिश्रण था, साथ ही रियासतों से सुंदरता की भागीदारी के साथ दृश्यों को झुकाव–"जानना"। चित्रकला की कला द्वारा एक महान भूमिका निभाई गई थी।

मुख्य केंद्रों की चित्रकारी

उदयपुर

मेवारा के शासकों ने अपने पूर्वजों को "ग्रेट सन् कबीले" में उठाया और "महान" शीर्षक पहना था, जो उनकी महानता पर बल देते थे। "राणा" शीर्षक में सटीक परिभाषा नहीं है और आमतौर पर "राजकुमार" के रूप में अनुवाद किया जाता है। इसके अलावा, मेवारा के राजकुमारों ने उनके नाम "सिंह" का उल्लेख किया, जिसका अर्थ है "शेर"।

बूंदी

राजस्थान के दक्षिण-पूर्व में स्थित, 1624 तक बुंदी और कोटा की प्रमुखताएं एक ही राज्य थीं। वह थाड कबीले की दो अलग-अलग शाखाओं द्वारा शासित था (इस संबंध में बुंदी, कोटा और आस-पास के कुछ इलाके "हडोटी भूमि" के आम नाम के तहत एकजुट होते हैं और चित्रकला को "हैडती स्कूल" कहा जाता है)। बुंदी का प्रारंभिक इतिहास या जैसा कि प्राचीन काल में कहा जाता था–वृंदावती, पनीररिक बल्लाड से जाना जाता है। मुगल साम्राज्य की शक्ति प्राप्त होने के बाद, 1569 में बुंदी सुरजन सिंह (1554-85) के शासक मुगल सम्राटों की सेवा में गए, उन्हें ईमानदारी से सेवा दी, जिसके लिए उन्हें राव राजा का खिताब दिया गया और उन्हें कब्जा कर लिया गया बनारेस के पास चुनार जिला।

जयपुर की चित्रकारी

रियासत, जिसकी राजधानी 1728 में जयपुर शहर बन गई थी, प्राचीन काल से धुंधर के रूप में जाना जाता है और 10 वीं शताब्दी में इसकी उपस्थिति के बाद इसे कच्छवा के राजवंश (वंश) द्वारा शासित किया गया था। सोलहवीं शताब्दी की शुरुआत में, रियासत की राजधानी एम्बर शहर बन गई, जिसका मुख्य किला XII शताब्दी में बनाया गया था।

अंबर

जयपुर चित्रकला का फूल 18 वीं सदी में पड़ता है, हालांकि, इससे पहले, रियासत की पुरानी राजधानी में–एम्बर, चित्रकला का एक स्कूल था,

जिसमें कुछ स्थानीय विशेषताएं थीं। एक तरफ, मुगल शैली पर एक मजबूत निर्भरता है, जो मुगलों से संबंधित संबंधों से व्याख्या करना आसान है (शोधकर्ताओं ने नोट किया कि स्थानीय कलाकार मुगल कला को महारत हासिल करने की गति के मामले में राजस्थान का नेतृत्व कर रहे हैं तकनीकें), दूसरी तरफ, एम्बर की पेंटिंग में लोक कला के साथ गहरा संबंध है।

जयपुर की रियासत की चित्रण विशेष रूप से केवल राज्य की राजधानी में केंद्रित नहीं थी, बल्कि पड़ोसी केंद्रों में भी विकसित हुई, जिसमें सामंती प्रभुओं के परिवार जीवित थे, कच्छवा के राजधानी वंश के साथ संबंधों के संबंधों से जुड़े थे। इस्सार, मलपुर, समोदा और करौली में स्थानीय चित्रकला राजधानी शैलियों से प्रभावित थीं। एक और जगह जहां जयपुर स्कूल स्वयं दिखाया गया था वह मुगल साम्राज्य के पतन के परिणामस्वरूप 18 वीं शताब्दी के अंत में कच्छवा वंश की शाखाओं में से एक के प्रतिनिधियों द्वारा स्थापित अलवर रियासत थी। यहां, दो शासकों के साथ, राव राजा प्रताप सिंह (1756-90) और उनके बेटे राव राजा बख्तरवार सिंह (1790-1814), एक छोटा स्थानीय स्कूल (या उप-शैली) दिखाई दिया, जो जाहिर है, आगमन का परिणाम था, जयपुर से अलवर में दो कलाकारों के नाम, जिनके नाम शिव कुमार और धालू राम थे। वे लगभग 1770 पहुंचे, जब राव राजा प्रताप सिंह ने राजगढ़ किला बनाया, जिससे वह अपनी राजधानी बना। ढलू राम फ्रेस्को के मालिक थे (उन्हें "ग्लास महल" शिश महल चित्रित करने का श्रेय दिया गया, बाद में उन्हें अदालत के संग्रहालय का प्रमुख नियुक्त किया गया)। शिव कुमार को थोड़ी देर बाद जयपुर लौटना होगा। लघुचित्रो और भित्तिचित्रों में, स्थानीय कलाकारों ने रियासतों के स्वागत के दृश्य, कृष्णा और राधा, राम और सीता, नायक और नाइके आदि को समर्पित दृश्यों को प्रदर्शित किया। 1815-57 में शासन करने वाले राजा बनी सिंह, उनकी राजनीतिक और सांस्कृतिक महत्त्वाकांक्षाओं में विशेष रूप से महत्त्वाकांक्षी थे। कला के उच्चतम संरक्षण का प्रदर्शन करने के लिए और मुगल सम्राटों के स्तर पर इस संबंध में वृद्धि करने के लिए, वह लगभग है। 1840 में उन्होंने प्रमुख दिल्ली कलाकार गुलाम अली खान को आमंत्रित किया।

मारवार (जोधपुरा) की चित्रकारी

मारवार एक विकृत "मारुवार" है, जिसका अर्थ है "मैरी की भूमि", जो "मृत्यु का देश" है। इतिहासकारों का मानना घ्है कि इस नाम को इस तथ्य के

संबंध में तय किया गया था कि राजकुमार इलाके में स्थित था, जिनमें से अधिकांश टैर रेगिस्तान पर कब्जा कर लिया गया है (हालांकि आधुनिक इतिहासकार यह मानते हैं कि 13 वीं-16 वीं सदी में रहने की स्थितियां बहुत नरम थीं)। मारवार राज्य राठौर के राजपूत वंश के प्रतिनिधियों द्वारा बनाया गया था, जो मुस्लिम विजेता कुतुब-उद-दीन द्वारा हटा दिए जाने के बाद बादाण से इन स्थानों पर आए थे (सुझाव देते हैं कि रत्खक राष्ट्रकूट वंश के वंशज हैं)। प्रिंसिपलिटी की स्थापना 13 वीं शताब्दी में हुई थी, (पारंपरिक तिथि 1226 वर्ष है)।

किशनगढ़ की चित्रकारी

किशनगढ़ राज्य की स्थापना 1609 में किशन सिंह (1609-1615), जोधपुर के राजकुमार ने की थी। उन्होंने झंडाला झील के पास एक किले का निर्माण किया, जिसे अक्सर किशनगढ़ चित्रकला के कार्यों पर देखा जा सकता है और झील के बीच में एक मंडप है, जिसे केवल नाव द्वारा ही पहुंचा जा सकता है।इस शासक ने अपनी अदालत में पहली कला कार्यशाला भी स्थापना की।

राजा सावंत सिंह और बानी थानी

किशनगढ़ पेंटिंग का असली फूल राजा सावंत सिंह (1748-1765) के नाम से जुड़ा हुआ है। यह राज सिंह और उनकी पत्नी महाराजा चट्टूर कुनवारी साहिब का सबसे बड़ा बेटा था। अपने पूर्ववर्तियों के बाद, सावंत सिंह मुगलों में शामिल हो गए और अपने युवाओं में वह अक्सर सम्राट मुहम्मद शाह (1719-1748) की अदालत में गए, जहां पुनर्विक्रय शासन हुआ। हालांकि, उम्र के साथ, उन्होंने धर्म को अधिक से अधिक समय देना शुरू किया, किशनगढ़ में विष्णुवाद का दावा किया और भक्ति के पवित्र अनुष्ठानों में भाग लिया। 1748 में, उनके पिता की मृत्यु हो गई और दिल्ली के सावंत सिंह किशनगढ़ चले गए, लेकिन इस तथ्य के बावजूद कि सिंहासन पर उनके प्रवेश को सम्राट मुहम्मद शाह ने खुद को मंजूरी दे दी थी, इसलिए वह प्रधानता का उत्तराधिकारी नहीं हो पाए, क्योंकि छोटे भाई बहादुर सिंह ने सत्ता का उपयोग किया सिंहासन पर कब्जा कर लिया। सावंत सिंह मदद के लिए सम्राट की ओर रुख,लेकिन शमशेर बहादुर की अगुवाई में मराठों ने उनकी मदद की। सभी प्रयासों के

बावजूद, उनकी सेना राजधानी–रुपनगर पर कब्जा नहीं कर सका। नतीजतन, सावंत सिंह रियासत को तीन भागों (1756) में विभाजित करने पर सहमत हुए। उन्हें रूपनगर, किशनगढ़ और काक्रडी को उनके भाई मिले। कुछ समय बाद उन्होंने सरकार के अपने बेटे सरदार सिंह (1757–1766) को सरकार के पदों को स्थानांतरित कर दिया और सभी उपायो और सम्मानों को बरकरार रखा, उनकी पत्नी सांसारिक व्यर्थता से पवित्र शहर वृंदावन तक सेवानिवृत्त हुई, जहां 21 अगस्त को उनकी मृत्यु हो गई, 1765।कुछ समय बाद उन्होंने सरकार के अपने बेटे सरदार सिंह (1757–1766) को सरकार के पदों को स्थानांतरित कर दिया और सभी उपायो और सम्मानों को बरकरार रखा, उनकी पत्नी सांसारिक व्यर्थता से पवित्र शहर वृंदावन तक सेवानिवृत्त हुई, जहां 21 अगस्त को उनकी मृत्यु हो गई, 1765।

12

आधुनिक भारतीय चित्रकला

नामपद्धतियाँ सैदव अप्रासंगिक नहीं होती हैं, उदाहरण के लिए 'आधुनिक' शब्द। इसके अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं। इसी प्रकार से 'समकालिक या समकालीन' शब्द है। यहां तक कि ललित कला के क्षेत्र में भी कलाकारों, इतिहासकारो और आलोचकों के बीच भ्रम तथा अनावश्यक विवाद है। वास्तव में, इन सभी के मन में एक ही बात है और तर्क शब्दावली संबंधी जटिलताओं को लेकर ही दिए जाते हैं। यहां अर्थगत प्रयोग में उलझना आवश्यक नहीं है। सामान्यत: रूप से, कुछ लोगों को ऐसा मानना है कि भारतीय कला में आधुनिक युग लगभग 1857 में या इसके आस-पास प्रारम्भ हुआ। यह एक ऐतिहासिक आधारवाक्य है। राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, नई दिल्ली के पास लगभग इस अवधि की कला-कृतियां हैं। पश्चिम में आधुनिक युग का प्रारम्भ सुविधानुसार प्रभाववादियों से माना जाता है। तथापि, जब हम आधुनिक भारतीय कला की बात करते हैं तब हम सामान्यत: बंगाल की चित्रकला शैली से प्रारम्भ करते हैं। क्रम और महत्त्व दोनों ही दृष्टियों से हमें कला के पाठ्यक्रम में चित्रकला, मूर्तिकला और रेखाचित्र-कला के क्रम का पालन करना पड़ता है। इनमें से अन्तिम अर्थात रेखाचित्र-कला का भी अभी हाल ही में विकास हुआ है।

आमतौर पर कहें तो आधुनिक या समकालीन कला की अनिवार्य विशेषताएं हैं- कपोल-कल्पना से कुछ स्वतंत्रता, एक उदार दृष्टिकोण को

स्वीकृति, जिसने कलात्मक अभिव्यक्ति को क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में स्थापित कर दिया है, तकनीक का एक सकारात्मक उत्थान जो प्रचुरोद्भवी और सर्वोपरि दोनों ही हो गया है और कलाकार का एक विशिष्ट व्यक्ति के रूप में उभरना।

चित्रकारी– राजा रवि वर्मा द्वारा 'चांदनी रात में स्त्री' का चित्र

कई व्यक्ति आधुनिक कला को निषिद्ध क्षेत्र नहीं तो वीभत्स अवश्य ही मानते हैं, ऐसा नहीं कि कोई भी क्षेत्र मानव की उपलब्धियों से वंचित हो। अपरिचित से निपटने की सर्वोत्तम विधि यह है कि इसका दृढ़ता से सामना किया जाए। इच्छा-शक्ति, अध्यवसाय और उचित तथा सतत अनावरण अथवा सामना करना परम आवश्यक है।

उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते, भारतीय चित्रकला, भारतीय वाद्य चित्रकला के एक विस्तार के रूप में, मुख्य रूप से राजनीतिक और समाजवैज्ञानिक दोनों प्रकार के ऐतिहासिक कारणों की वजह से बीच में ही रूक गई तथा इसमें गिरावट आने लगी एवं क्षीण और विवेकहीन अनुकृति के रूप में इसका ह्रास होने लगा, जिसके परिणामस्वमरूप एक रिक्त स्थान उत्पन्न हो गया, जिसे बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक भी भरा नहीं जा सका था। देश के कई भागों में जीवित लोक कला के अधिक ठोस रूपों में अतिरिक्त, चित्रकला की 'बाजार' और 'कंपनी' शैलियों के रूप में मध्यवर्ती अवधि के दौरान कला की कुछ छोटी-मोटी अभिव्यक्तियां ही देखने को मिलती हैं। इसके पश्चात् प्रकृतिवाद की पश्चिमी संकल्पना का उदय हुआ। इसके सर्वप्रथम प्रतिपाद राजा रवि वर्मा थे। भारतीय कला से समूचे इतिहास में इसके समकक्ष कोई नहीं है, जबकि भारतीय साहित्य में यदा-कला कुछ संदर्भ मिलता है।

इस सांस्कृतिक स्थिति का सामना करने के लिए अवनींद्र नाथ टैगोर ने एक प्रयास किया था, जिनके प्रेरित नेतृत्व में चित्रकला की एक नयी शैली अस्तित्त्व में आई जो प्रारम्भ में स्पष्टत: गृह प्रेम तथा प्रेम सम्बंधी प्रणयी थी। इसने बांग्ला चित्रकला शैली के रूप में तीन दशकों से भी अधिक समय तक अपनी शैली में कार्य किया, इसे पुनरुज्जीवन शैली या पुनरुद्धार-वृत्ति शैली भी कहा जाता है- यह ये दोनों ही थी। प्रारम्भिक वर्षों में समूचे देश में अपने प्रभाव के बावजूद, चालीस के दशक तक इसका महत्त्व कम हो गया था और अब तो यह मृतप्राय: ही है, जबकि पुनरुज्जीवन शैली के योगदान ने चित्रकला की, विगत समय के साथ पूर्णतया एक सफल कड़ी के रूप में नहीं तो एक उत्प्रेरित

और नेकनीयत के रूप में सेवा की। कला में उत्तरवर्ती आधुनिक आन्दोलन के लिए उर्वरक भूमि के रूप में भी इसका महत्त्व नगण्य है। आधुनिक भारतीय कला के उद्‌गम अन्यत्र ही है।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के समय ऐसी राजनीतिक तथा साथ ही साथ सांस्कृतिक किस्म की ताकतों तथा स्थितियों को अवमुक्ति किया, जो अभूतपूर्व एवं कदापि नई थीं, उसकी, जिसका सामना जितना हम सबने किया उतना ही सामना कलाकार ने अपने अनुभव और अत्यधिक महत्त्व के आधार पर किया। यह वही अवधि थी, जब हमारे देश ने स्वतंत्रता प्राप्त की थी। स्वतंत्रता के साथ अभूतपूर्व अवसर भी आए। कलाकार का आधुनिकीकरण के एक सामान्य पाठ्यक्रम से परिचय हुआ और वह विश्व-व्यापी तथा विशेष रूप से पश्चिमी दुनिया के दूरगामी परिणामों से अवगत हुआ, चूंकि वह भारतीय परम्परा तथा विरासत से बहुत दूर कर दिया गया था और इसकी सच्ची भावना से विमुख कर दिया गया था, इसने इस नए अनुभव को उत्सुकतावश अधिक तेजी से एवं अधिक मात्रा में आत्मसात कर लिया। यह स्थिति आज भी समान रूप से विद्यमान है और ऐतिहासिक अनिवार्यता की इसकी अपनी एक गूंज है। यही स्थिति आधुनिक भारतीय साहित्य और रंगशाला की भी है। नृत्य में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया धीमी है और संगीत में तो और भी कम है, जबकि कलाकार ने अपने इस अनुभव से काफी कुछ सीखा है, वह अनजाने में ही कला की एक नई अन्तर्राष्ट्रीय संकल्पना की दौड़ में शामिल हो गया है। हम इसे नवजात पुराने देश की और इसकी प्रारम्भिक दशा के एक भाग की एक प्ररूपी विशेषता मान सकते हैं। जीवन के प्रति सामान्य रूप से हमारा दृष्टिकोण, असंख्य प्रकार की समस्याओं को हल करने के संबंध में समान रूप से उत्तरदायी हैं।

समकालिक भारतीय चित्रकला की एक मुख्य विशेषता यह है कि तकनीक और पद्धति में एक नवीन महत्त्व अर्जित कर लिया है। आकार को एक पृथक अस्तित्त्व माना जाता था और इस पर दिए जाने वाले अधिकाधिक बल के साथ-साथ इसने एक कला-कृति की अंतर्वस्तु को गौण बना दिया। अभी हाल तक स्थिति ऐसी ही थी और अब भी स्थिति कुछ-कुछ ऐसी ही है, आकार को अंतर्वस्तु के एक वाहन के रूप में नहीं माना जाता था। वास्तव में स्थिति विपरीत हो गई थी। इसका अर्थ यह हुआ कि बाह्य तत्त्वों को प्रेरणा मिली तथा इनका विकास हुआ, तकनीक को अति जटिल बना दिया और अपने अनुक्रम में एक नए सौन्दर्यशास्त्र को जोड़ दिया। चित्रकार ने बड़ी मात्रा में दृष्टि तथा

इन्द्रिय स्तर अर्जित कर लिया था–विशेष रूप से वर्णों के प्रयोग के बारे में, अभिकल्प और संरचना की संकल्पना मे और गैर-परम्परागत सामग्री को प्रयोग में लाने के संबंध में। चित्रकला वर्ण, संघटन संबंधी युक्ति अथवा मात्रा संरचना की दृष्टि से या तो टिकी या फिर गिर गई। कला ने कुल मिलाकर अपनी स्वायत्तता अर्जित कर ली और कलाकार ने अपनी एक व्यक्तिगत स्थिति हासिल कर ली, जो कि पहले कभी नहीं हुआ था।

दूसरी ओर, हमने कला की समय के साथ अर्जित एकीकृत संकल्पना को खो दिया है, कला की आधुनिक अभिव्यक्ति ने वहां स्पष्टत: एक करवट ली है, जहां कोई एक तत्त्व, जिसने कभी कला को एक हितकारी अस्तित्त्व बना दिया था, अब शेष के आंशिक या समग्र अपवर्जन के प्रति असाधारण ध्यान का दावा करता है। व्यक्तिवाद में वृद्धि के परिणामस्वरूप और कला के सैद्धान्तिक रूप से पृथक्करण के कारण कलाकारों की लोगों के साथ वास्तविक घनिष्ठता की एक नई समस्या उत्पन्न हो गई थी। कलाकार और समाज के बीच पर्याप्त तथा विशिष्ट परस्परा संबंध के अभाव की वजह से दुर्दशा में वृद्धि हुई थी। जबकि काफी हद तक यह तर्क दिया जा सकेगा कि समकालिक कला की यह विशिष्ट दुर्दशा समाजवैज्ञानिक विवशताओं के कारण हुई है और यह है कि आज की कला समकालीन समाज की अव्यवस्थापूर्ण स्थितियों का आईना है, हम कलाकार और समाज के बीच दुर्भाग्यकपूर्ण रिक्ति को स्पष्टत: देख सकते हैं। हमारे अपने क्षितिज से आगे के क्षितिजों के अपने हितकारी पहलू है और ये आज की बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से असाधारण मान्यता रखते हैं। नए सिद्धान्तों का साझा करने में विशेष रूप से तकनीक और सामग्री की दृष्टि से अन्य लोगों एवं विचारों के साथ सरलतापूर्वक आदान-प्रदान हितकारी है।

एक बार पुन: उदारता और प्रयोग की शताब्दी के चतुर्थांश की समाप्ति पर बंधनयुक्त अनुभूति के और चीजों का पता लगाने तथा उन्हें परखने की दिशा में किए गए एक प्रयास के कुछ प्रमाण हैं। मूल्यवान अनुभव और ज्ञान को अन्यत्र ले जाया जा रहा है और इसका मूल्यांकन हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की अवर्णित विसंगति की दबंगई के विपरीत, प्रेरणा के एक ऐसे वैकल्पिक स्रोत को तलाशने का प्रयास किया गया, जिसे समकालिक होने के साथ किसी भी व्यक्ति के अपने देश से होना चाहिए और किसी भी व्यक्ति के वातावरण के अनुकूल होना चाहिए।

समकालिक भारतीय कला ने रवि वर्मा, अवनींद्रनाथ टैगोर और इनकी अनुयायियों तथा यहां तक कि अमृता शेरगिल के समय से एक लम्बा सफर तय किया है। स्थूल रूप से, इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया गया है। लगभग सभी प्रतिष्ठित कलाकारों ने एक प्रकार की निरूपणीय या चित्र-संबंधी कला से शुरूआत की थी या अन्य प्रभाववाद, अभिव्यक्तिवाद या उत्तर-अभिव्यक्तिवाद से जुड़े रहे। आकार और अन्तर्वस्तु के कष्टिप्रद संबंध को सामान्यत: एक अनुपूरक स्तर पर रखा गया था। फिर विलोपन तथा सरलीकरण के विभिन्न चरणों के माध्यम से, आयाम-चित्रण और तन्मयता एवं अभिव्यक्तिवादी विभिन्न प्रवृत्तियों के माध्यम से, कलाकार लगभग गैर चित्र-संबंधी या समग्र गैर चित्र-संबंधी स्तरों पर पहुंचे थे। कुछेक को छोड़कर अधिकांश कला-विरोधी एवं अल्पज्ञानी वास्तव में हमारे कलाकारों की कल्पनाशक्ति तक पहुंच ही नहीं पाए थे। विफल और उदासीन तन्मयता पर पहुंचने के पश्चात् बैठ कर चिन्तन करने का मार्ग ही शेष रह जाता है। इस घिसी-पिटी प्रवृत्ति का वरिष्ठ और सुस्थापित कलाकारों सहित बड़ी संख्या में कलाकारों ने पालन किया है। शून्य की दिशा में इस यात्रा के प्रतिक्रिया स्वरुप, तीन अन्य मुख्य रुझान है—मुख्य विषय के रूप में मनुष्य की दुर्दशा के साथ विक्षुब्ध सामाजिक अशान्ति और अस्थिरता का प्रक्षेपण, भारतीय चिन्तन और सैद्धान्तिकी में अभिरुचि, तथाकथित तांत्रिक चित्रकलाओं में तथा प्रतीकात्मक महत्त्व की चित्रकलाओं में यथा अभिव्यक्ति और इन दो प्रवृत्तियों से भी बढ़कर, नई अभिरुचि अस्पष्ट अतियथार्थवादी दृष्टिकोणों में एवं भ्रान्ति में है। इन सबसे बढ़कर अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि अब कोई भी आकार और अन्तर्वस्तु अथवा तकनीक तथा अभिव्यक्ति के बीच परस्पर विरोध की बात नहीं करता। वास्तव में और पूर्ववर्ती स्वीकृति के विरोध स्वरुप, लगभग प्रत्येक व्यक्ति इस बारे में आश्वस्त है कि किसी धारणा, संदेश या मनोवृत्ति के रहस्य के संबंध में तकनीक और रूप एकमात्रा महत्त्वपूर्ण पूर्वापेक्षा है, जो किसी अज्ञात अस्तित्त्व में प्राण फूंकती हैं, जिससे कि एक ऐसे व्यक्ति को अन्य से कुछ भिन्न बनाया जा सकता है।माना जाता है कि भारतीय चित्रकला में आधुनिक भारतीय कला आंदोलन शुरू हो गया है कलकत्ता उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में। चित्रकला की पुरानी परंपराओं में कम से कम मृत्यु हो गई थी, बंगाल और कला के नए स्कूल अंग्रेजों द्वारा शुरू किए गए थे। प्रारंभ में, भारतीय कला के नायक जैसे—राजा रवि वर्मा ने पश्चिमी परंपराओ और तकनीकों पर तेल पेंट और ईजेल पेंटिंग सहित तकनीकें खींचीं।

पश्चिमी प्रभाव की प्रतिक्रिया ने प्राइमेटिववाद में पुनरुत्थान की शुरुआत की, जिसे बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट कहा जाता है, जो समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से आकर्षित हुआ इंडिया। यह शांतिनिकेतन स्कूल द्वारा सफल रहा, जिसका नेतृत्व रवींद्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में आदर्श ग्रामीण लोक और ग्रामीण जीवन में हुआ। शुरुआती सालों में देशव्यापी प्रभाव के बावजूद, स्कूल के महत्त्व ने 'चालीस' से गिरावट आई और अब यह मृत के रूप में उतना ही अच्छा है।

ब्रिटिश कला स्कूल

तेल और ईजल पेंटिंग भारत में अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत में शुरू हुई, जिसमें जोफनी, केटल, होजेस, थॉमस और विलियम डेनियल, जोशुआ रेनॉल्ड्स, एमिली ईडन और जॉर्ज चिन्नारी जैसे–कई यूरोपीय कलाकारों ने देखा इंडिया प्रसिद्धि और भाग्य की खोज में। भारत के रियासतों की अदालतें यूरोपीय कलाकारों के लिए दृश्य और प्रदर्शन कलाओं के संरक्षण और पोर्ट्रेट की यूरोपीय शैली की उनकी आवश्यकता के कारण एक महत्त्वपूर्ण ड्रॉ थीं।

ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों ने देशी कला के लिए एक बड़ा बाजार भी प्रदान किया। 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कागज और मीका पर जल रंग चित्रकला के विकास की एक अलग शैली, रोजमर्रा की जिंदगी के दृश्यों, रियासतों के शासन और देशी उत्सवो और अनुष्ठानों को दर्शाती है। "कंपनी शैली" या "पटना शैली", यह पहली बार मुर्शिदाबाद में विकसित हुई और ब्रिटिश श्वेतता के अन्य शहरों में फैल गई। इस शैली को अधिकारियों द्वारा हाइब्रिड शैली और विशिष्ट गुणवत्ता" माना जाता है।

1857 के बाद, जॉन ग्रिफिथ्स और जॉन लॉकवुड किपलिंग (रूडयार्ड किपलिंग के पिता) एक साथ भारत आए, ग्रिफिथ सर जे जे स्कूल ऑफ आर्ट का नेतृत्व करने जा रहे है और उन्हें भारत आने के लिए बेहतरीन विक्टोरियन चित्रकारों में से एक माना जाता है और किपलिंग 1878 में लाहौर में स्थापित जे जे स्कूल ऑफ आर्ट और मेयो स्कूल ऑफ आर्ट्स दोनों के प्रमुख बने।

भारतीय इतिहास, स्मारकों, साहित्य, संस्कृति और कला की ओर ब्रिटिशों की पिछली पीढ़ी द्वारा दिखाए गए अठारहवीं सदी के दृष्टिकोण ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में एक मोड़ लिया। भारतीय कला के पिछले अभिव्यक्तियों को "मृत" और संग्रहालयों की सामग्री के रूप में दूर कर दिया गया था, "आधिकारिक ब्रिटिश परिप्रेक्ष्य से, इंडिया कोई जीवित कला नहीं थी"। कला

शिक्षा और औपनिवेशिक एजेंडा में पश्चिमी मूल्यों का प्रचार करने के लिए, अंग्रेजों ने कला स्कूलों की स्थापना की कलकत्ता तथा मद्रास 1854 मे और अंदर बंबई 1857 में।

राजा रवि वर्मा

राजा रवि वर्मा (1848–1906) त्रवणकोर की रियासत से एक उल्लेखनीय आत्म–सिखाया गया भारतीय चित्रकार था। पश्चिम में उनका संपर्क आया जब उन्होंने 1873 में वियना आर्ट प्रदर्शनी में पहला पुरस्कार जीता। वर्मा की पेंटिंग्स को विश्व के कोलंबियाई प्रदर्शनी में भी भेजा गया था शिकागो 18 93 मे और उनके काम को दो स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया था। उन्हें आधुनिकतावादियों में से पहला माना जाता है और अमृता शेर–जिल (1913–1941) के साथ, पश्चिमी तकनीक के मुख्य घाटे वाले भारतीय संस्कृति की व्यक्तिपरक व्याख्या में एक नया सौंदर्य विकसित करने के लिए "माध्यम में भौतिकता का वादा" ईजल पेंटिंग के दर्पण/खिड़की प्रारूप के तेलो और वास्तविकता–प्रतिमान के"। 19वीं शताब्दी में पैदा हुए, कुछ अन्य प्रमुख भारतीय चित्रकार महादेव विश्वनाथ धुरंधर (1867–1944), एंटोनियो जेवियर ट्राइन्डेड (1870–1935), मनचेशो फकीरजी पिथवल्ला (1872–1937), सलाराराम लक्ष्मण हल्दंकर (1882–19 68) और हमन मजूमदार (1894–1948)।

19वीं शताब्दी के औपनिवेशिक–राष्ट्रवादी ढांचे में, वर्मा का काम यूरोपीय शैक्षणिक कला की तकनीक के साथ भारतीय परंपराओं के संलयन के सर्वोत्तम उदाहरणों में से एक माना जाता था। उन्हें सुंदर साड़ी पहने महिलाओं की अपनी पेंटिंग्स के लिए सबसे याद किया जाता है, जिन्हें आकार और सुंदर के रूप में चित्रित किया गया था। महाभारत और रामायण के महाकाव्यों के दृश्यों के चित्रण में वर्मा भारतीय विषयों के सबसे प्रसिद्ध रूपरेखाकार बने।

राजा रवि वर्मा ने अपना काम 19वीं शताब्दी भारत के संदर्भ में "एक नई सभ्यता पहचान स्थापित करने" के रूप में माना।: 147 उनका उद्देश्य क्लासिक यूनानी और रोमन सभ्यताओं के तरीके में कला का भारतीय कैंटन बनाना था। भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास में वर्मा की कला एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने आई थी। वर्मा ने एक प्रिंटिंग प्रेस खरीदी, जिसने अपनी पेंटिंग्स की ओलोग्राफ प्रतियां निकाल दीं, जो मध्य–वर्ग के घरों को स्वीकार करती थीं इंडिया, उनकी मृत्यु के कई दशकों बाद। अपने उत्तरार्ध में एक प्रतिभा माना

जाता है, अपने उत्तीर्ण होने के कुछ सालों के भीतर, वर्मा की पेंटिंग्स पश्चिमी कला की नकल करने के लिए गंभीर कठोरता में आ गईं।

राजा रवि वर्मा की मृत्यु 1906 में 58 वर्ष की उम्र में हुई थी। उन्हें भारतीय कला के इतिहास में सबसे महान चित्रकारों में से एक माना जाता है।

श्री वैभव एस अधव

भारत का पिकासो श्री वैभव एस आधाव के युवा चेहरे में आया है। वैभव एस आधाव भारतीय आधुनिक कलाकार हैं और उन्होंने एक नया कला रूप बनाया है, जिसका नाम इंडो-यूरो आधुनिक कला है। यह दुनिया में अद्वितीय कला है। वह इस पर आधारित है इंडिया। उन्होंने आधुनिक, समकालीन, भारतीय, यूरोपीय, वारली, लैंडस्केप इत्यादि में कला विकसित की है। अब वह भारतीय कला का भविष्य वैश्विक मंच है।

बंगाल स्कूल

औपनिवेशिक युग के दौरान, पश्चिमी प्रभावों ने भारतीय कला पर प्रभाव डालना शुरू कर दिया था। कुछ कलाकारों ने एक ऐसी शैली विकसित की जिसने भारतीय विषयों को चित्रित करने के लिए रचना, परिप्रेक्ष्य और यथार्थवाद के पश्चिमी विचारों का उपयोग किया, राजा रवि वर्मा उनके बीच प्रमुख थे। बंगाल स्कूल एक अवंत गार्डे और राष्ट्रवादी आंदोलन के रूप में उभरा, जो पहले प्रचारित शैक्षिक कला शैलियों के खिलाफ प्रतिक्रिया कर रहा था इंडिया, वर्मा और ब्रिटिश कला स्कूलों जैसे–भारतीय कलाकारों द्वारा।

पश्चिम में भारतीय आध्यात्मिक विचारों के व्यापक प्रभाव के बाद, ब्रिटिश कला शिक्षक अर्नेस्ट बिनफील्ड हवेल ने छात्रों को मुगल लघुचित्रों की नकल करने के लिए प्रोत्साहित करके कलकत्ता स्कूल ऑफ आर्ट में शिक्षण विधियों में सुधार करने का प्रयास किया। इसने अत्यधिक विवाद पैदा किया, जिसके कारण स्थानीय प्रेस से छात्रो और शिकायतों की हड़ताल हुई, जिसमें राष्ट्रवादियों ने भी इसे एक प्रगतिशील कदम माना। हावेल कवि रवींद्रनाथ टैगोर के एक भतीजे कलाकार अबानिंद्रनाथ टैगोर द्वारा समर्थित था।

अबानिंद्रनाथ ने मुगल कला से प्रभावित कई कामों को चित्रित किया, एक शैली है कि वह और हवेल का अभिव्यक्ति माना जाता है, इंडिया पश्चिम के "भौतिकवाद" के विरोध में, विशिष्ट आध्यात्मिक गुण हैं। उनकी सबसे प्रसिद्ध

पेंटिंग, भारत माता (मदर इंडिया) ने एक युवा महिला को चित्रित किया, जिसमें हिंदू देवताओं के तरीके में चार हथियारों के साथ चित्रित किया गया था, जिसमें वस्तुएं थीं इंडिया राष्ट्रीय आकांक्षाएं। बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट के अन्य प्रमुख आंकड़े गगनेंद्रनाथ टैगोर, अबानिंद्रनाथ के बड़े भाई, जामिनी रॉय, मुकुल डे, मनीशी डे और राम किन्कर बाईज थे, जो आधुनिक भारतीय मूर्तिकला के अग्रणी के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस युग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण आंकड़ा चित्तप्रोसाद भट्टाचार्य था, जिसने क्लासिकवाद को खारिज कर दिया था बंगाल स्कूल और इसके आध्यात्मिक पूर्वाग्रह। उनकी पुस्तक भूख बंगाल: मिदनापुर जिले के माध्यम से एक दौरे में जीवन से खींचे गए बंगाल अकाल के कई स्केच, साथ ही चित्रित व्यक्तियों के दस्तावेज शामिल थे। पुस्तक को तुरंत अंग्रेजों द्वारा प्रतिबंधित कर दिया गया था और 5000 प्रतियों को जब्त कर नष्ट कर दिया गया था। चित्तप्रोसाद के परिवार द्वारा केवल एक प्रति छिपी हुई थी और अब वह कब्जे में है दिल्ली कला गेलरी।

20 वीं शताब्दी के शुरुआती सालों के दौरान, अबानिंद्रनाथ ने एशियाई प्रवृत्तियों के साथ एक वैश्वीकृत आधुनिकतावादी पहल के हिस्से के रूप में कला इतिहासकार ओकाकुरा काकूजो और चित्रकार योकॉयमा ताइकन जैसे–जापानी सांस्कृतिक आंकड़ों के साथ संबंध विकसित किए।

इस इंडो-सुदूर पूर्वी मॉडल से जुड़े लोगों में नंदलाल बोस, बेनोड बेहारी मुखर्जी, विनायक शिवराम मासोजी, बीसी सान्याल, बीहर राममानोहर सिन्हा और बाद में उनके छात्र ए रामचंद्रन, तन युआन चेमेली और कुछ अन्य शामिल थे। बंगाल भारतीय कला दृश्य पर स्कूल का प्रभाव धीरे-धीरे स्वतंत्रता के बाद आधुनिकतावादी विचारों के प्रसार के साथ कम करना शुरू कर दिया।

शांति निकेतन

का मंत्र बंगाल स्कूल जब रवींद्रनाथ टैगोर ने दूरदर्शी की स्थापना की थी, तब उठाया गया था विश्वविद्यालय का शांति निकेतन, एक विश्वविद्यालय ने भारतीय संस्कृति, मूल्यो और विरासत के संरक्षण और उत्थान पर ध्यान केंद्रित किया। इसमें 19 20–21 में स्थापित एक कला विद्यालय "कला भवन" शामिल था, यद्यपि रवींद्रनाथ स्वयं अपने लंबे, उत्पादक जीवन में चित्रकला के लिए देर से आए, उनके विचारों ने भारतीय आधुनिकता को बहुत प्रभावित किया। निजी तौर पर, टैगोर ने छोटे चित्रों को बनाया, स्याही के साथ रंगीन, जिसके

लिए उन्होंने अपने बेहोशी से अपने प्राइमेटिववाद के लिए प्रेरणा ली। सार्वजनिक जीवन में, रवींद्रनाथ की प्राथमिकता को सीधे महात्मा गांधी के समान औपनिवेशिक प्रतिरोध के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

अबानिंद्रनाथ टैगोर के शुरुआती छात्रों में से एक नंदलाल बोस था, जो बाद में एक शिक्षक और बाद में कला के निदेशक बन गए। नंदलाल ने अब भारतीय संस्कृति में उभरती राष्ट्रीयवादी विचारधारा में स्कूल को पूर्व-प्रतिष्ठा की स्थिति में ले जाया। शांतिनिकेतन स्कूल ने विचार किया कि "एक सौंदर्यशास्त्र भी एक आचार था, कि कला की भूमिका जीवन-वृद्धि से अधिक थी, यह दुनिया के आकार का था"। इसने ओरिएंटल और पश्चिमी विद्यालयों से अलग प्राकृतिकता का एक भारतीय संस्करण स्थापित किया, एक उदाहरण पानी के रंग, धोने, temper और स्याही का उपयोग कर कागज/रंगीन कागज पर काम के लिए तेल और ईजल पेंटिंग के eschewing होने का एक उदाहरण है। रवींद्रनाथ टैगोर के पुराने मूल्यों की पूजा का सपना, ग्रामीण लोक, विशेष रूप से संथाल आदिवासी जैसे–रूपों द्वारा टाइप किया गया, शांतिनिकेतन में विश्व-भारती विश्वविद्यालय के कला से संबंधित स्कूलों में सफल रहा। शांतिनिकेतन स्कूल के कुछ प्रमुख कलाकार बेनोड बेहारी मुखर्जी, रामकिंकर बैज, शंको चौधरी, दिनकर कौशिक, केजी सुब्रमण्यन, बीहर राममानोहर सिन्हा, कृष्ण रेड्डी, एक रामचंद्रन, शोभा ब्रह्मा, रमनंद बंधपाध्याय, धर्म नारायण दासगुप्त, सुशीन घोस, जनक झंकर नारजरी

प्रासंगिक आधुनिकतावाद

प्रासंगिक आधुनिकीकरण का विचार 1997 में आर शिव कुमार के शांतिनिकेतन से उभरारू द किकटेक्स्टुअल मॉडर्निज्म द मेकिंग ऑफ ए कॉन्टेक्स्टुअल मॉडर्निज्म एक पूर्वनिर्धारित महत्त्वपूर्ण टूल के रूप में पूर्व कालोनियों की दृश्य कलाओं में वैकल्पिक आधुनिकता की समझ में इंडिया, विशेष रूप से शांतिनिकेतन कलाकारों की।

आधुनिकता के पॉल गिल्रॉय की काउंटर संस्कृति और तानी बारलो के औपनिवेशिक आधुनिकता सहित कई शर्तों का उपयोग गैर-यूरोपीय संदर्भों में उभरे वैकल्पिक वैकल्पिकता के वर्णन के लिए किया गया है। प्रोफेसर गैल का तर्क है कि 'प्रासंगिक आधुनिकतावाद' एक अधिक उपयुक्त शब्द है, क्योंकि "औपनिवेशिक आधुनिकता में औपनिवेशिक कमजोरियों को आंतरिक बनाने के

लिए उपनिवेश स्थितियों में से कई लोगों के इनकार करने से इनकार नहीं करता है। संतिनिकतन के कलाकार शिक्षकों ने अधीनस्थता से इंकार कर दिया, जो आधुनिकता का एक प्रतिबिंब शामिल था नस्लीय सांस्कृतिक अनिवार्यता को सुधारने के लिए जो शाही पश्चिमी आधुनिकता और आधुनिकता को चलाता और दिखाता है। उन यूरोपीय आधुनिकताओं, जो एक विजयी ब्रिटिश औपनिवेशिक शक्ति के माध्यम से प्रक्षेपित हुए, ने राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाओं को उकसाया, समान रूप से समस्याग्रस्त होने पर समान समस्याग्रस्त हो गए। "

आर शिव कुमार के मुताबिक "शांतिनिकेतन कलाकार पहले व्यक्तियों में से एक थे, जिन्होंने आधुनिकतावाद के आधुनिक विचार और इतिहासकार स्वदेशी दोनों को चुनकर आधुनिकतावाद के इस विचार को चुनौती दी और एक संदर्भ संवेदनशील आधुनिकतावाद बनाने की कोशिश की।" वह शांतिनिकेतन स्वामी के काम का अध्ययन कर रहे थे और 80 के दशक के बाद से कला के दृष्टिकोण के बारे में सोच रहे थे। शिव कुमार के मुताबिक, बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट के तहत नंदलाल बोस, रवींद्रनाथ टैगोर, राम किन्कर बाईज और बेनोड बेहारी मुखर्जी को कम करने का अभ्यास था। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि प्रारंभिक लेखकों को कला शैली पर उनकी शैलियों, विश्वव्यापी और दृष्टिकोण के बजाय शिक्षुता की वंशावली द्वारा निर्देशित किया गया था।

हाल के अतीत में प्रासंगिक आधुनिकता ने अध्ययन के अन्य संबंधित क्षेत्रों में विशेष रूप से वास्तुकला में इसका उपयोग पाया है।

आजादी के बाद के समय तक, आजादी 1947 में, कला के कई स्कूलों में इंडिया आधुनिक तकनीको और विचारों तक पहुंच प्रदान की गई। इन कलाकारों को प्रदर्शित करने के लिए गैलरी स्थापित की गई थी। आधुनिक भारतीय कला आमतौर पर पश्चिमी शैलियों का प्रभाव दिखाती है, लेकिन अक्सर भारतीय विषयो और छवियों से प्रेरित होती है। प्रमुख कलाकारों को शुरुआत में भारतीय डायस्पोरा में अंतरराष्ट्रीय मान्यता हासिल करना शुरू हो रहा है, लेकिन गैर-भारतीय दर्शकों के बीच भी।

प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप, जल्द ही स्थापित हुआ इंडिया 1947 में स्वतंत्र हो गया, जिसका उद्देश्य व्यक्त करने के नए तरीकों को स्थापित करना था, इंडिया औपनिवेशिक युग के बाद में। इसके संस्थापक फ्रांसिस न्यूटन सूजा और एसएच रजा, एमएफ हुसैन और मनीशी डे शुरुआती सदस्य थे। यह भारतीय कला के मुहावरे को बदलने में गहरा प्रभावशाली था। लगभग सभी प्रमुख

कलाकारों इंडिया 1950 के दशक में समूह के साथ जुड़े थे। उनमें से प्रमुख अकबर पदमसी, सदानंद बकरे, राम कुमार, तैयब मेहता, केएच आरा, एचएड और बाल चब्दा थे। 1950 में, वीएस गायतोंडे, कृष्ण खन्ना और मोहन सामंत समूह में शामिल हो गए। समूह 1956 में विघटित हुआ।

नारायण श्रीधर बेंद्रे, केके हैबबर, केसीएस पानिकर, संको चौधरी, एंटोनियो पिएडेड दा क्रूज, केजी सुब्रमण्यन, बीहर राममानोहर सिन्हा, सतीश गुजराल, बिकश भट्टाचार्य, जहांगीर सबावाला, सक्ति बर्मन, ए रामचंद्रन, गणेश पायने, निरोद मजूमदार जैसे–अन्य प्रसिद्ध चित्रकार, गुलाम मोहम्मद शेख, जहर दासगुप्त, प्रोकश कर्मकर, जॉन विल्किन्स, विवन सुंदरम, जोजेन चौधरी, जगदीश स्वामीनाथन, ज्योति भट्ट, भूपेन खाखड़, जेराम पटेल, नारायणन रामचंद्रन, परमजीत सिंह, प्रणब बरुआ, डोम मार्टिन (गोवा से अतियथार्थवादी पेंटर) और बिजोन चौधरी ने भारत की कला संस्कृति को समृद्ध किया और वे आधुनिक भारतीय कला के प्रतीक बन गए हैं। बी प्रभा, शनू लाहिरी, अर्पिता सिंह, अंजोलि एला मेनन और ललिता लाजमी जैसी महिला कलाकारों ने आधुनिक भारतीय कला और चित्रकला में अत्यधिक योगदान दिया है। प्रो. राय आनंद कृष्ण जैसे–कला इतिहासकारों ने आधुनिक कलाकारों के उन कार्यों को भी संदर्भित किया है, जो भारतीय आचारों को प्रतिबिंबित करते हैं। कुछ प्रशंसित समकालीन भारतीय कलाकारों में नागासामी रामचंद्रन, जितीश कल्लात, अतुल दोडिया और गीता वाधरा शामिल हैं, जिन्होंने जटिल, भारतीय आध्यात्मिक विषयों को सूफी विचार, उपनिषद और भगवद गीता जैसे–कैनवास पर अनुवाद करने में प्रशंसा की है।

1990 के दशक से ही भारतीय कला को देश के आर्थिक उदारीकरण के साथ बढ़ावा मिला। विभिन्न क्षेत्रों के कलाकारों ने अब काम की विभिन्न शैलियों को लाने शुरू कर दिया। उदारीकरण के बाद भारतीय कला न केवल अकादमिक परम्पराओं की सीमाओं के भीतर, बल्कि इसके बाहर भी काम करती है। कलाकारों ने नई अवधारणाएं पेश की हैं, जो अब तक भारतीय कला में नहीं देखी गई हैं। देवज्योति रे ने स्यूडोरेलाइज्म नामक कला की एक नई शैली पेश की है। स्यूडोरेलिस्ट आर्ट एक मूल कला शैली है, जिसे पूरी तरह से भारतीय मिट्टी पर विकसित किया गया है। छद्मवादवाद अमूर्तता की भारतीय अवधारणा को ध्यान में रखता है और भारतीय जीवन के नियमित दृश्यों को शानदार छवियों में बदलने के लिए इसका उपयोग करता है।

उदारीकरण के बाद में इंडिया, कई कलाकारों ने खुद को अंतर्राष्ट्रीय कला बाजार में स्थापित किया है, जैसे–अमूर्त चित्रकार नटवर भास्सार, अमूर्त कला चित्रकार नाबाकिशोर चंदा और मूर्तिकार अनिश कपूर जिनकी विशाल पदचिपा कलाकारों ने अपने आकार के लिए ध्यान आकर्षित किया है। कई कला घरो और दीर्घाओं में भी खोला गया है अमेरिका तथा यूरोप भारतीय कलाकृतियों को प्रदर्शित करने के लिए। कला विद्वान जैसे–वैभव एस अधव, सी शिवराममुर्ती, आनंद कृष्ण, आर। शिव कुमार और गीता कपूर ने भारतीय कला को वैश्विक मंच पर ले लिया है।

13

परंपरागत कला

कला तत्त्व

परंपरागत कला कला (एनीमेशन सहित) है, जो एक छवि बनाने के लिए पारंपरिक और कंप्यूटर आधारित तकनीकों को जोड़ती है।

पृष्ठभूमि

कलाकार और अध्यापक जूडिथ मोंक्रिफ ने पहले शब्द का इस्तेमाल किया। 1990 के दशक की शुरुआत में, जबकि प्रशांत नॉर्थवेस्ट कॉलेज ऑफ आर्ट के एक प्रशिक्षक, मॉन्क्रिफ ने "ट्राइडीजीटल" नामक एक नया डिजिटल माध्यम का आविष्कार किया और सिखाया। स्कूल ने मॉन्क्रिफ के छात्रों के बीच एक प्रतियोगिता आयोजित की, जिन्होंने नर्तकियों के प्रदर्शन के वीडियोटैप से परिधानों की तस्वीरों से लेकर हर चीज को इलेक्ट्रॉनिक रूप से जोड़कर इलेक्ट्रॉनिक रूप से इस्तेमाल किया। Moncrieff ने भी इसी अवधि के आस-पास "व्यापारिक इमेजिंग" के रूप में अपने व्यापारिक इकाई (पहले "मोंक्वीरफ स्टूडियोज") का भी उल्लेख किया

मोनक्रिफ, "अकल संस्करण" नामक डिजिटल कला सामूहिक के पांच संस्थापक सदस्यों में से एक थे। ये पांच कलाकार-हेलन गोल्डन, बोनी ल्च्छा, डोरोथी क्राउज, जुडिथ मोंक्रिफ और कारीन 'माकि–ने पारंपरिक स्टूडियो

मीडिया और डिजिटल इमेजिंग के साथ-साथ मूल ललित कला और संस्करणों का निर्माण करने की तकनीक में अपनी विशेषज्ञता का संयोजन किया। कलाकारों को जून, 1994 में मिले, "डिजिटल प्रिंट से परे", एक मैसाचुसेट्स कॉलेज ऑफ आर्ट एंड डिजाइन में क्रॉस द्वारा आयोजित कार्यशाला बोस्टान। कलाकारों की विविध पृष्ठभूमि उनके मिश्रित मीडिया दृष्टिकोण में स्पष्ट होती है, कंप्यूटर को एक कला बनाने के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करने के लिए यद्यपि हर छवि को कम्प्यूटर पर कम से कम भाग में देखा जाता है, काम की सीमा में एक तरह के चित्रकारी, कोलाज, पोलराइड और छवि स्थानांतरण, मोनोटाइप और प्रिंट जैसे–कैनवास, हस्तनिर्मित पेपर और उभरा हुआ धातु जैसे–विभिन्न substrates पर प्रिंट शामिल हैं। इस उभरते आंदोलन के नाम के रूप में पारंपरिक और डिजिटल उपकरणों के विलय और "परंपरागतवाद" का वर्णन करने के लिए मोंक्रिफ ने "परंपरागत मीडिया" शब्द का प्रयोग किया है अद्वितीय संस्करणों ने प्रौद्योगिकियों की खोज और डिजिटल कला को बढ़ावा देने के लिए अनुसंधान और सार्वजनिक संबंध इकाई के रूप में भी काम किया। समूह ने कलाकारों के परिप्रेक्ष्य से उनके उत्पादों पर प्रतिक्रिया देने के प्रयास में हार्डवेयर और सॉफ्टवेयर डेवलपर्स के साथ संबंधों का जायजा लिया। यह कलाकार के स्टूडियो में डिजिटल प्रौद्योगिकियों की भूमिका की शेष कला दुनिया के प्रदर्शन के रूप में कार्य करता है। अद्वितीय संस्करण 199 7 में निष्क्रिय हो गयाय हालांकि, गोल्डन और मोंक्रिफफ ने नाम के साथ मिलकर काम करना जारी रखा, "परंपरागत ललित कला"

स्वतंत्र रूप से 1990 के दशक में, कलाकार लिसा रें ने "कलाकृति की पुनर्जागरण कल्पना" नामक ललित कला शैली विकसित की थी। प्रोटोटाइप प्रत्येक काम के लिए रंगीन प्रतियां, रंगीन फोटो या फिल्म के नकारात्मक ग्राफिक कलाओं के अंधेरे में बन्द किए गए थे। 1990 में, उसने अपने प्रोटोटाइप को इकट्ठा करने में सक्षम मालिकाना कम्प्यूटर सिस्टम के साथ देश में केवल दो स्थानों का दौरा किया: राफेल डिजिटल ट्रांसपेरेन्सिज ह्यूस्टन टेक्सास और डॉज रंग प्रयोगशालाओं में वाशिंगटन डीसी पहले दो प्रोटोटाइप, ब्रू ऑफ लाइफ एंड काल्पनिक, एक सुपरसैट मशीन पर डॉज कलर लेबोरेटरीज द्वारा इकट्ठा किए गए थे, जिन्हें रक्षा विभाग द्वारा पहले विकसित किया गया था। अंतिम कला को 1 "चुंबकीय टेप पर संग्रहित किया गया और फिर 11×14" रंगीन फिल्म पारदर्शिता के रूप में आउटपुट किया गया। लिसा ने जूडिथ मोंटिकोफ को

अन्वेषण और 1990 के दशक के प्रारंभ में, पारंपरिक संस्करणो और परंपरागत फाइन आर्ट के साथ अपना पहला प्रयास पाया, "परंपरागत" और अपने स्वयं के काम का वर्णन करने के लिए शब्द भी प्रयोग किया।

शब्द का अन्य उपयोग

तब से, शब्द का उपयोग अन्य कला रूपों को शामिल करने के लिए बहुत बड़ा हुआ है।

2002 में, "ट्रैडिजिटल" मुख्य धारा में चला गया, जब जैफरी काटजेनबर्ग ने पारंपरिक एनीमेशन तकनीकों के साथ कंप्यूटर एनीमेशन के मिश्रण को संदर्भित करने के लिए पारिवारिक एनीमेशन का इस्तेमाल किया, "दो-आयामी और तीन आयामी एनिमेशन तकनीकों का सहज मिश्रण" उन्होंने टोनी स्टोरी, एंटीज, श्रेक, आइस एज, एंड स्पिरीज जैसे–स्टाइलियन ऑफ द सिमारोन के उदाहरणों के रूप में उदाहरण दिया है। उनका मानना था कि वॉल्ट डिजनी (एक पारंपरिक कला एनिमेटर) आज के कार्टून के रूप में किए गए परिवर्तनों को स्वीकार करेंगे। एनीमेशन वर्ल्ड मैगजीन, परंपरागत टेलीविजन का वर्णन करता है और टेलिविजन शो के लिए पूर्व और पोस्ट-प्रोडक्शन प्रक्रियाओं पर परंपरागत एनिमेशन के प्रभाव का वर्णन करता है।

परंपरागत मुद्रण, समकालीन प्रौद्योगिकी के साथ प्रिंट करने के लिए एक प्रयोगात्मक दृष्टिकोण है। परंपरागत मुद्रण के एक रूप में, प्रिंटमेकर प्लेट्स और स्क्रीन पर यूवी फोटो ट्रांसफर के लिए पॉजिटिव बनाने के लिए कंप्यूटर का इस्तेमाल करते हैं। एक अन्य रूप में, सिल्कस्क्रीन, राहत या इटैग्लियो तकनीक को शामिल करने वाले डिजिटल प्रिंट आउटपुट फोकस है, उदाहरण के लिए, जोसेफीन प्रेस एक ऐसी प्रक्रिया का उपयोग करता है, जो परंपरागत तकनीकों जैसे–आर्किग्लिओ, वुडकट्स, लिथोग्राफ और अन्य सभी पारंपरिक प्रिंटमेकिंग विधियों के साथ अभिलेखीय डिजिटल प्रिंट के उपयोग को जोड़ती है। इस प्रक्रिया से कलाकार चार-प्लेट प्रक्रिया का उपयोग किए बिना बहु-रंगीन छवि बनाने की अनुमति देता है अधिक कुशल पंजीकरण के अलावा, कलाकार कोलाज और अन्य मिश्रित मीडिया कार्यों के साथ काम कर सकते हैं, जिन्हें स्कैन और अभिलेखीय तरीके से पुनः प्रस्तुत किया जा सकता है। परंपरागत प्रिंटिंग छवि बनाने की संभावनाओं का विस्तार करती है, जबकि अभी भी एक मूल हाथ खींचा, सीमित संस्करण, ललित कला प्रिंट का उत्पादन होता है।

एक हाल ही में वॉल स्ट्रीट जर्नल लेख ने परंपरागत क्रिएटिवों को "कल की आवाज" के रूप में बताया, "पारंपरिक" और "डिजीटलिस्ट" दोनों के साथ उन्हें अलग-थलग कर दिया और नई कला/विपणन माध्यम के कई अलग-अलग विशेषताओं की पहचान: आवाजों ने आंखों को नहीं देखा, अनुभव संदेश नहीं, समुदाय संचार नहीं, उपयोगिता और समाधान नहीं चतुराई, सहयोगी नहीं सिल्वा विचारक।

14

दृश्य कला

कला अंदाज

दृश्य कलाएं सिरेमिक, ड्राइंग, पेंटिंग, मूर्तिकला, प्रिंटमेकिंग, डिजाइन, शिल्प, फोटोग्राफी, वीडियो, फिल्म निर्माण और वास्तुकला जैसे–कला रूप हैं। कई कलात्मक विषयों (प्रदर्शन कला, वैचारिक कला, वस्त्र कला) में दृश्य कला के पहलुओं के साथ-साथ अन्य प्रकार की कलाएं शामिल हैं। दृश्य कलाओं के भीतर शामिल औद्योगिक कला, ग्राफिक डिजाइन, फैशन डिजाइन, आंतरिक डिजाइन और सजावटी कला जैसे–लागू कलाएं हैं।

"दृश्य कला" शब्द के वर्तमान उपयोग में ललित कला के साथ-साथ लागू, सजावटी कला और शिल्प शामिल हैं, लेकिन यह हमेशा ऐसा नहीं था। 20 वीं सदी के मोड़ पर ब्रिटेन और अन्य जगहों पर कला और शिल्प आंदोलन से पहले, 'कलाकार' शब्द अक्सर ललित कला (जैसे–पेंटिंग, मूर्तिकला या प्रिंटमेकिंग) में काम करने वाले व्यक्ति तक सीमित था और हस्तकला, शिल्प नहीं या लागू कला मीडिया। कला और शिल्प आंदोलन के कलाकारों द्वारा भेद पर जोर दिया गया था, जो उच्च कला रूपों के रूप में बहुत बढ़िया कला रूपों को महत्त्व देते थे। कला विद्यालयों ने ललित कला और शिल्प के बीच एक अंतर किया, यह सुनिश्चित करते हुए कि एक शिल्पकार को कला का अभ्यासी नहीं माना जा सकता है।

एक "दृश्य कला का काम" एक पेंटिंग, ड्राइंग, प्रिंट या मूर्तिकला है, जो 200 प्रतियों या उससे कम के सीमित संस्करण में एक एकल प्रतिलिपि में विद्यमान है, जो कि लेखक द्वारा हस्ताक्षरित और लगातार क्रमांकित हैं। दृश्य कला के किसी भी कार्य में कोई पोस्टर, मानचित्र, ग्लोब, चार्ट, तकनीकी ड्राइंग, आरेख, मॉडल, एप्लाइड आर्ट, मोशन पिक्चर या अन्य दृश्य-श्रव्य कार्य, पुस्तक, पत्रिका, समाचार पत्र, आवधिक, डाटा बेस, इलेक्ट्रॉनिक सूचना सेवा, शामिल नहीं है। प्रकाशन या समान प्रकाशनय किसी भी मर्चेंडाइजिंग आइटम या विज्ञापन, प्रचार, वर्णनात्मक, कवरिंग या पैकेजिंग सामग्री या कंटेनर को शामिल न करें।

शिक्षा और प्रशिक्षण

दृश्य कला में प्रशिक्षण आम तौर पर प्रशिक्षुता और कार्यशाला प्रणालियों की विविधताओं के माध्यम से होता रहा है। यूरोप में कलाकारों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए पुनर्जागरण आंदोलन ने प्रशिक्षण कलाकारों के लिए अकादमी प्रणाली का नेतृत्व किया और आज ज्यादातर लोग जो तृतीयक स्तरों पर कला स्कूलों में कला ट्रेन में अपना कैरियर बना रहे हैं। दृश्य कला अब अधिकांश शिक्षा प्रणालियों में एक वैकल्पिक विषय बन गया है। (कला शिक्षा भी देखें)

चित्रकारी

ड्राइंग एक छवि बनाने का एक साधन है, जिसमें कई प्रकार के उपकरणो और तकनीकों का उपयोग किया जाता है। इसमें आम तौर पर एक उपकरण से दबाव लागू करके सतह पर निशान बनाना शामिल होता है या ड्राई मीडिया जैसे–ग्रेफाइट पेंसिल, पेन और स्याही, स्याही वाले ब्रश, मोम रंग पेंसिल, क्रेयॉन, चारकोल, पेस्टल और मार्कर के माध्यम से सतह पर एक उपकरण को स्थानांतरित करना शामिल है। इन के प्रभावों का अनुकरण करने वाले डिजिटल उपकरणों का भी उपयोग किया जाता है। ड्राइंग में उपयोग की जाने वाली मुख्य तकनीकें हैं– लाइन ड्राइंग, हैचिंग, क्रॉसचौचिंग, रैंडम हैचिंग, स्क्रिबलिंग, स्टिपलिंग और ब्लेंडिंग। ड्राइंग में उत्कृष्ट प्रदर्शन करने वाले कलाकार को ड्राफ्ट्समैन या ड्राफ्ट्समैन के रूप में जाना जाता है।

ड्राइंग कम से कम 16,000 साल तक पुरापाषाण गुफा में जानवरों का प्रतिनिधित्व करता है, जैसे–कि फ्रांस में लास्काक्स और स्पेन में अल्तामीरा।

प्राचीन मिस्र में, पपीरस पर स्याही चित्र, अक्सर लोगों को चित्रित करते हुए, पेंटिंग या मूर्तिकला के लिए मॉडल के रूप में उपयोग किया जाता था। यूनानी अंमे पर चित्र, शुरू में ज्यामितीय, बाद में 7 वीं शताब्दी ईसा पूर्व के दौरान काले आकृति वाले मिट्टी के बर्तनों के साथ मानव रूप में विकसित हुए।

15 वीं शताब्दी तक यूरोप में कागज के सामान्य होने के साथ, सैंड्रो बोथिकेली, राफेल, माइकल एंजेलो और लियोनार्डो दा विंची जैसे–स्वामी द्वारा ड्राइंग को अपनाया गया था, जो कभी-कभी चित्रकला या मूर्तिकला के लिए एक प्रारंभिक चरण के बजाय ड्राइंग को एक कला के रूप में मानते थे।

वस्तुतः ली गई पेंटिंग एक वाहक (या माध्यम) में निलंबित वर्णक और एक बाध्यकारी एजेंट (एक गोंद) को एक सतह (समर्थन) जैसे–कि कागज, कैनवास या एक दीवार पर लागू करने का अभ्यास है, हालांकि, जब एक कलात्मक अर्थ में उपयोग किया जाता है, तो इसका मतलब है कि इस गतिविधि का उपयोग आरेखण, रचना या अन्य सौंदर्यवादी विचारों के संयोजन में किया जाता है, ताकि चिकित्सक की अभिव्यंजक और वैचारिक मंशा प्रकट हो सके। पेंटिंग का उपयोग आध्यात्मिक रूपांकनो और विचारों को व्यक्त करने के लिए भी किया जाता है, इस तरह की पेंटिंग की साइटें मिट्टी के बर्तनों पर पौराणिक चित्रों को दर्शाती कलाकृति से लेकर द सिस्टिन चौपल से लेकर मानव शरीर तक ही है।

मूल और प्रारंभिक इतिहास

ड्राइंग की तरह, पेंटिंग की गुफाओ और रॉक चेहरों पर इसकी प्रलेखित उत्पत्ति है। कुछ 32,000 साल पुराने माने जाने वाले बेहतरीन उदाहरण, दक्षिणी फ्रांस की चौवेट और लास्काक्स गुफाओं में हैं। लाल, भूरे, पीले और काले रंगों में, दीवारो और छत पर पेंटिंग बाइसन, मवेशियों, घोड़ो और हिरणों की हैं।

प्राचीन मिस्र की कब्रों में मानव आकृतियों के चित्र देखे जा सकते हैं। रामेस द्वितीय के महान मंदिर में, नेफर्टारी, उनकी रानी, को आइसिस के नेतृत्व में चित्रित किया गया है। यूनानियों ने पेंटिंग में योगदान दिया लेकिन उनका बहुत काम खो गया है। शेष बचे अभ्यावेदन में से एक हेलेनिस्टिक फेयूम ममी पोर्ट्रेट हैं। एक और उदाहरण पोम्पेई में इस्सुस की लड़ाई का मोजेक है, जो संभवतः एक ग्रीक पेंटिंग पर आधारित था। ग्रीक और रोमन कला ने 4 वीं शताब्दी ईसा पूर्व में बीजान्टिन कला में योगदान दिया, जिसने आइकन पेंटिंग में एक परंपरा शुरू की।

नवजागरण

मध्य युग के दौरान भिक्षुओं द्वारा निर्मित प्रबुद्ध पांडुलिपियों के अलावा, यूरोपीय कला में अगला महत्त्वपूर्ण योगदान इटली के पुनर्जागरण चित्रकारों का था। 13 वीं शताब्दी में जियोटो से लेकर 16 वीं शताब्दी की शुरुआत में लियोनार्डो दा विंची और राफेल तक, इटालियन कला में यह सबसे समृद्ध अवधि थी, क्योंकि 3-डी अंतरिक्ष का भ्रम पैदा करने के लिए क्रियोस्कोरो तकनीक का उपयोग किया गया था।

उत्तरी यूरोप के चित्रकार भी इतालवी स्कूल से प्रभावित थे। बेल्जियम से जान वैन आइक, नीदरलैंड से पीटर ब्रूगल और जर्मनी के हंस होल्बिन द यंगर इस समय के सबसे सफल चित्रकारों में से हैं। उन्होंने गहराई और प्रकाश को प्राप्त करने के लिए तेलों के साथ ग्लेजिंग तकनीक का उपयोग किया।

डच स्वामी

17 वीं शताब्दी में महान डच स्वामी जैसे–बहुमुखी रेम्ब्रांट के उद्‌भव को देखा गया, जिन्हें विशेष रूप से उनके चित्रो और बाइबिल के दृश्यों के लिए याद किया गया था और वर्मीयर जो डच जीवन के आंतरिक दृश्यों में विशिष्ट थे।

बरोक

16 वीं शताब्दी के अंत से 17 वीं शताब्दी के अंत तक पुनर्जागरण के बाद बारोक की शुरुआत हुई। बैरोक के मुख्य कलाकारों में कारवागियो शामिल थे, जिन्होंने परोपकार का भारी उपयोग किया। पीटर पॉल रूबेन्स एक क्षणभंगुर चित्रकार थे, जिन्होंने इटली में अध्ययन किया, एंटवर्प में स्थानीय चर्चों के लिए काम किया और मैरी डे मेडिसी के लिए एक शृंखला भी चित्रित की। एनीबेल कार्रेसी ने सिस्टिन चौपल से प्रभाव लिया और भ्रमकारी छत पेंटिंग की शैली बनाई। बरोक में होने वाले अधिकांश विकास प्रोटेस्टेंट सुधार और परिणामस्वरूप काउंटर सुधार के कारण थे। बारोक को परिभाषित करने वाले अधिकांश नाटकीय प्रकाश और समग्र दृश्य हैं।

प्रभाववाद

19 वीं शताब्दी में फ्रांस में क्लाड मोनेट, पियरे-अगस्टे रेनॉयर और पॉल सेजेन सहित कलाकारों के एक ढीले जुड़ाव के साथ प्रभाववाद की शुरुआत हुई,

जिन्होंने चित्रकला में एक नए स्वतंत्र रूप से ब्रश करने की शैली को लाया, जो अक्सर स्टूडियो की तुलना में बाहर आधुनिक जीवन के यथार्थवादी दृश्यों को चित्रित करने के लिए चुनते थे।। यह ब्रश स्ट्रोक और वास्तविकता की छाप द्वारा प्रदर्शित सौंदर्य सुविधाओं की एक नई अभिव्यक्ति के माध्यम से प्राप्त किया गया था। उन्होंने शुद्ध, बिना रंग वाले और छोटे ब्रश स्ट्रोक का उपयोग करके तीव्र रंग कंपन प्राप्त किया। आंदोलन ने कला को एक गतिशील के रूप में प्रभावित किया, समय के साथ आगे बढ़ रहा है और नई पाया तकनीको और कला की धारणा को समायोजित कर रहा है। विस्तार की ओर ध्यान आकर्षित करने में एक प्राथमिकता से कम हो गया, जबकि कलाकारों की आंखों में परिदृश्य और प्रकृति के एक पक्षपाती दृश्य की खोज की।

प्रभाववाद के बाद

19 वीं शताब्दी के अंत में, कई युवा चित्रकारों ने गहरे प्रतीकवाद के लिए प्रयास करते हुए भावनाओं को चित्रित करने के लिए ज्यामितीय रूपो और अप्राकृतिक रंग का उपयोग करते हुए, एक मंच को आगे बढ़ाया। विशेष रूप से पॉल गाउगिन, जो एशियाई, अफ्रीकी और जापानी कला से काफी प्रभावित थे, विन्सेन्ट वैन गॉग, एक डचमैन थे, जो फ्रांस चले गए, जहां उन्होंने दक्षिण की तेज धूप और टूलूज-लुटेरेस्क, को अपनी ज्वलंत चित्रों के लिए याद किया। मॉन्टमार्ट्रे के पेरिस जिले में रात का जीवन।

प्रतीकवाद, अभिव्यक्तिवाद और शावकवाद

नार्वे के एक कलाकार, एडवर्ड मंच ने 19 वीं शताब्दी के अंत में फ्रांसीसी प्रभाववादी मानेट से प्रेरित होकर अपना प्रतीकात्मक दृष्टिकोण विकसित किया। चीख (1893), उनके सबसे प्रसिद्ध कार्य, व्यापक रूप से आधुनिक आदमी की सार्वभौमिक चिंता का प्रतिनिधित्व करने के रूप में व्याख्या की जाती है। आंशिक रूप से मंक के प्रभाव के परिणामस्वरूप, 20 वीं शताब्दी की शुरुआत में जर्मनी में जर्मन अभिव्यक्तिवादी आंदोलन की शुरुआत हुई, जैसे–कि अर्नस्ट किर्स्चनर और एरच हेकेल जैसे–कलाकारों ने भावनात्मक प्रभाव के लिए वास्तविकता को विकृत करना शुरू कर दिया। समानांतर में, फ्रांस में क्यूबिज्म के रूप में जानी जाने वाली शैली को एक रचना के भीतर तेज संरचनाओं की मात्रा और स्थान पर केंद्रित किया गया। पाब्लो पिकासो और

जॉर्जेस ब्रेक आंदोलन के प्रमुख प्रस्तावक थे। वस्तुओं को तोड़ दिया जाता है, विश्लेषण किया जाता है और एक सार रूप में फिर से इकट्ठा किया जाता है। 1920 के दशक तक, शैली दाली और मैग्रेट के साथ वास्तविकता में विकसित हो गई थी।

प्रिंटमेकिंग

Printmaking बना रहा है, कलात्मक उद्देश्यों के लिए, एक मैट्रिक्स पर एक छवि जो फिर स्याही (या रंजकता के एक अन्य रूप) द्वारा दो-आयामी (सपाट) सतह पर स्थानांतरित की जाती है। एक मोनोटाइप के मामले को छोड़कर, प्रिंट के कई उदाहरणों का उत्पादन करने के लिए एक ही मैट्रिक्स का उपयोग किया जा सकता है।

ऐतिहासिक रूप से, इसमें शामिल प्रमुख तकनीक (जिसे मीडिया भी कहा जाता है) वुडकट, लाइन उत्कीर्णन, नक्काशी, लिथोग्राफी और स्क्रीनप्रिंटिंग (सेरिग्राफी, सिल्स्कस्क्रीनिंग) हैं, लेकिन आधुनिक डिजिटल तकनीकों सहित कई अन्य हैं। आम तौर पर, प्रिंट कागज पर मुद्रित होता है, लेकिन अन्य माध्यमों में कपड़ा और मखमल से लेकर अधिक आधुनिक सामग्री होती है। प्रमुख मुद्रण परंपराओं में जापान (नापलव-म) शामिल है।

यूरोपीय इतिहास

लगभग 1830 से पहले निर्मित पश्चिमी परंपरा में प्रिंट को पुराने मास्टर प्रिंट के रूप में जाना जाता है। यूरोप में, बीजान्टिन और इस्लामी दुनिया में विकसित मुद्रण तकनीकों का उपयोग करके कागज पर मास्टर प्रिंट के लिए लगभग 1400 ईस्वी लकड़ी का उपयोग किया गया था। माइकल वोल्गामेट ने लगभग 1475 में जर्मन वुडकट में सुधार किया और एक डचमैन एरहार्ड रेविच ने क्रॉस-हैचिंग का उपयोग किया। सदी के अंत में अल्ब्रेक्ट ड्यूरर ने पश्चिमी वुडकट को एक ऐसे चरण में लाया, जिसे कभी भी पार नहीं किया गया, जिससे एकल-पत्ता वुडकट की स्थिति बढ़ गई।

चीनी मूल और अभ्यास

चीन में, प्रिंटमेकिंग की कला कुछ 1,100 साल पहले कागज पर छपाई के लिए वुडब्लॉक में टेक्स्ट कट के साथ चित्र के रूप में विकसित हुई। प्रारंभ

में छवियां मुख्य रूप से धार्मिक थीं लेकिन सांग राजवंश में, कलाकारों ने परिदृश्यों को काटना शुरू कर दिया। मिंग (1368द्1644) और किंग (1616–1911) के राजवंशों के दौरान, तकनीक धार्मिक और कलात्मक उत्कीर्णन दोनों के लिए सिद्ध थी।

जापान में विकास 1603–1867

जापान में वुडब्लॉक प्रिंटिंग एक तकनीक है, जिसे नापलव–म कलात्मक शैली में इसके उपयोग के लिए जाना जाता है, हालाँकि, इसका उपयोग उसी अवधि में पुस्तकों की छपाई के लिए भी किया जाता था। चीन में किताबें प्रिंट करने के लिए सदियों से वुडब्लॉक प्रिंटिंग का उपयोग किया गया था, जो चल प्रकार के आगमन से बहुत पहले था, लेकिन केवल जापान में एडो अवधि (1603–1867) के दौरान आश्चर्यजनक रूप से देर से अपनाया गया, हालाँकि कुछ मामलों में पश्चिमी प्रिंटमेकिंग में वुडकट के समान, मोकू हैंगा में बहुत भिन्नता है कि पानी आधारित स्याही का उपयोग किया जाता है (जैसा कि पश्चिमी वुडकट का विरोध किया जाता है, जो तेल आधारित स्याही का उपयोग करता है), ज्वलंत रंग, ग्लेज और रंग की एक विस्तृत श्रृंखला के लिए अनुमति देता है। पारदर्शिता।

फोटोग्राफी

फोटोग्राफी प्रकाश की क्रिया के माध्यम से चित्र बनाने की प्रक्रिया है। वस्तुओं से परावर्तित या उत्सर्जित लाइट पैटर्न एक संवेदनशील माध्यम या भंडारण चिप पर एक समयबद्ध जोखिम के माध्यम से दर्ज किए जाते हैं। प्रक्रिया यांत्रिक शटर या इलेक्ट्रॉनिक रूप से फोटॉन की रासायनिक प्रसंस्करण या कैमरों के रूप में ज्ञात उपकरणों में फोटॉनों के समयबद्ध प्रदर्शन के माध्यम से की जाती है।

यह शब्द ग्रीक शब्द फॉस ("लाइट") और ग्राफिस ("स्टाइलस", "पेंटब्रश") या ग्राफी से आया है, जिसका अर्थ है "प्रकाश के साथ ड्राइंग" या "रेखाओं के माध्यम से प्रतिनिधित्व" या "ड्राइंग"। परंपरागत रूप से, फोटोग्राफी के उत्पाद को एक तस्वीर कहा जाता है। शब्द फोटो एक संक्षिप्त नाम है, कई लोग उन्हें तस्वीरें भी कहते हैं। डिजिटल फोटोग्राफी में, शब्द की छवि तस्वीर बदलने के लिए शुरू हो गई है। (शब्द छवि ज्यामितीय प्रकाशिकी में पारंपरिक है।)

फिल्म निर्माण

फिल्म निर्माण स्क्रिप्टिंग, शूटिंग और रिकॉर्डिंग, एनीमेशन या अन्य विशेष प्रभावों, संपादन, ध्वनि और संगीत के काम के माध्यम से एक प्रारंभिक गर्भाधान और अनुसंधान से गति-चित्र बनाने की प्रक्रिया है और अंत में एक दर्शक को वितरणय यह सभी प्रकार की फिल्मों के निर्माण, मोटे तौर पर वृत्तचित्र, फिल्म में थिएटर और साहित्य के उपभेदो और काव्य या प्रयोगात्मक प्रथाओं को संदर्भित करता है और अक्सर वीडियो आधारित प्रक्रियाओं को संदर्भित करने के लिए भी उपयोग किया जाता है।

कंप्यूटर कला

दृश्य कलाकार अब पारंपरिक कला मीडिया तक सीमित नहीं हैं। कंप्यूटर का उपयोग 1960 के दशक से दृश्य कला में एक अधिक सामान्य उपकरण के रूप में किया गया है। उपयोगों में छवियो और रूपों को कैप्चर करना या बनाना शामिल है, उन चित्रो और रूपों का संपादन (कई रचनाओं की खोज सहित) और अंतिम प्रतिपादन या मुद्रण (3 डी प्रिंटिंग सहित)।

कंप्यूटर कला वह है, जिसमें कंप्यूटर उत्पादन या प्रदर्शन में भूमिका निभाता है। ऐसी कला एक छवि, ध्वनि, एनीमेशन, वीडियो, सीडी-रोम, डीवीडी, वीडियो गेम, वेबसाइट, एल्गोरिथ्म, प्रदर्शन या गैलरी स्थापना हो सकती है। कई पारंपरिक विषय अब डिजिटल प्रौद्योगिकियों को एकीकृत कर रहे है और परिणामस्वरूप, कंप्यूटर का उपयोग करके बनाई गई कला और नए मीडिया कार्यों के पारंपरिक कार्यों के बीच की रेखाएं धुंधली हो गई हैं। उदाहरण के लिए, एक कलाकार पारंपरिक पेंटिंग को एल्गोरिथम कला और अन्य डिजिटल तकनीकों के साथ जोड़ सकता है। परिणामस्वरूप, इसके अंतिम उत्पाद द्वारा कंप्यूटर कला को परिभाषित करना मुश्किल हो सकता है। फिर भी, इस प्रकार की कला कला संग्रहालय प्रदर्शनों में दिखाई देने लगी है, हालांकि इसे अभी तक स्वयं के रूप में अपनी वैधता साबित करना बाकी है और इस तकनीक को व्यापक रूप से समकालीन कला में एक उपकरण के रूप में देखा जाता है बजाय पेंटिंग के रूप में।

कंप्यूटर के उपयोग ने चित्रकारों, फोटोग्राफरों, फोटो संपादकों, 3-डी मॉडलर और हस्तकला कलाकारों के बीच अंतर को धुंधला कर दिया है। परिष्कृत प्रतिपादन और संपादन सॉफ्टवेयर ने बहु-कुशल छवि डेवलपर्स को

जन्म दिया है। फोटोग्राफर डिजिटल कलाकार बन सकते हैं। चित्रकार एनिमेटर बन सकते हैं। हैंडीक्राफ्ट कंप्यूटर एडेड हो सकता है या टेम्पलेट के रूप में कंप्यूटर जनरेटेड इमेजरी का उपयोग कर सकता है। कंप्यूटर क्लिप आर्ट के उपयोग ने दृश्य कला और पेज लेआउट के बीच स्पष्ट अंतर को कम स्पष्ट कर दिया है, क्योंकि दस्तावेज को आसान बनाने की प्रक्रिया में क्लिप आर्ट की आसान पहुंच और संपादन, विशेष रूप से अकुशल पर्यवेक्षक के लिए।

प्लास्टिक कला

प्लास्टिक की कला एक शब्द है, जिसे अब बड़े पैमाने पर भुला दिया गया है, जिसमें कला के रूप शामिल हैं, जो एक प्लास्टिक माध्यम के भौतिक हेरफेर में शामिल हैं, जैसे–कि मूर्तिकला या मिट्टी के पात्र को ढालना या मॉडलिंग करना। यह शब्द सभी दृश्य (गैर-साहित्यिक, गैर-संगीत) कलाओं पर भी लागू किया गया है।

जिन सामग्रियों को नक्काशी या आकार दिया जा सकता है, जैसे–कि पत्थर या लकड़ी, कंक्रीट या स्टील, को संकरी परिभाषा में भी शामिल किया गया है, चूंकि उपयुक्त उपकरण के साथ, ऐसी सामग्री भी मॉड्यूलेशन में सक्षम है। कला में "प्लास्टिक" को पीट मोंड्रियन के उपयोग के साथ भ्रमित नहीं होना चाहिए, न ही वह आंदोलन के साथ, जिसे फ्रांसीसी और अंग्रेजी में कहा जाता है, "नियोप्लास्टिकवाद।"

मूर्ति कला

मूर्तिकला कठिन या प्लास्टिक सामग्री, ध्वनि या पाठ और प्रकाश, आमतौर पर पत्थर (या तो पत्थर या संगमरमर), मिट्टी, धातु, कांच या लकड़ी के आकार या संयोजन के द्वारा बनाई गई तीन आयामी कलाकृति है। कुछ मूर्तियां सीधे खोज या नक्काशी द्वारा बनाई गई हैं, दूसरों को इकट्ठा किया जाता है, एक साथ बनाया जाता है और निकाल दिया जाता है, वेल्डेड, ढाला जाता है या डाला जाता है। मूर्तियां अक्सर चित्रित की जाती हैं। एक व्यक्ति जो मूर्तियां बनाता है, उसे मूर्तिकार कहा जाता है।

क्योंकि मूर्तिकला में ऐसी सामग्रियों का उपयोग शामिल है, जिन्हें ढाला या संशोधित किया जा सकता है, इसे प्लास्टिक की कलाओं में से एक माना जाता है। अधिकांश सार्वजनिक कला मूर्तिकला है। एक बगीचे की स्थापना

में एक साथ कई मूर्तियां मूर्तिकला उद्यान के रूप में संदर्भित की जा सकती हैं।

मूर्तिकार हमेशा हाथ से मूर्तियां नहीं बनाते हैं। 20 वीं शताब्दी में बढ़ती तकनीक और तकनीकी महारत के ऊपर वैचारिक कला की लोकप्रियता के साथ, अधिक मूर्तिकारों ने अपनी कलाकृतियों का निर्माण करने के लिए कला वस्त्रों की ओर रुख किया। निर्माण के साथ, कलाकार एक डिजाइन बनाता है और इसे बनाने के लिए एक फैब्रिकेटर का भुगतान करता है। इससे मूर्तिकारों को सीमेंट, धातु और प्लास्टिक जैसी सामग्री से बड़ी और अधिक जटिल मूर्तियां बनाने की अनुमति मिलती है, कि वे हाथ से नहीं बना पाएंगे। 3-डी प्रिंटिंग तकनीक से मूर्तियां भी बनाई जा सकती हैं।

चित्रकला को विशेषाधिकार देने की बढ़ती प्रवृत्ति और अन्य कलाओं के मुकाबले कुछ हद तक मूर्तिकला, पश्चिमी कला और पूर्वी एशियाई कला की विशेषता रही है। दोनों क्षेत्रों में चित्रकार को कलाकार की कल्पना पर उच्चतम स्तर पर भरोसा करने के रूप में देखा गया है और मैनुअल श्रम से हटाए गए सबसे दूर–चीनी चित्रकला में सबसे अधिक मूल्यवान शैली "विद्वान-चित्रकला" की थी, कम से कम सिद्धांत में अभ्यास किया गया था, सज्जन शौकीनों द्वारा। शैलियों के पश्चिमी पदानुक्रम समान दृष्टिकोण को दर्शाते हैं।

15

पहाड़ी चित्रकला

पहाड़ी चित्रकला भारत में हिमालय की तराई के स्वतंत्र राज्यों में विकसित पुस्तकीय चित्रण शैली है। पहाड़ी चित्रकला शैली दो सुस्पष्ट भिन्न शैलियों, साहसिक और गहन बशोली और नाजुक भावपूर्ण कांगड़ा से निर्मित है। पहाड़ी चित्रकला, अवधारणा तथा भावनाओं की दृष्टि से राजस्थानी चित्रकला से नजदीकी संबंध रखती है तथा गोपाल कृष्ण की किंवदंतियों के चित्रण की अभिरुचि में यह उत्तर भारतीय मैदानों की राजपूत चित्रकला से मेल खाती है। इसके प्राचीनतम ज्ञात चित्र (1690) बशोली उपशैली में हैं, जो 18वीं शताब्दी के मध्य तक कई केंद्रों पर जारी थी।

इसका स्थान कभी-कभी पूर्व कांगड़ा कहलाने वाली एक संक्रमणकारी शैली ने लिया, जो लगभग 1740 से 1775 तक रही। 18वीं शताब्दी के मध्य काल के दौरान परवर्ती मुगल शैली में प्रशिक्षत कई कलाकार परिवार नए संरक्षकों तथा सुरक्षित जीवन की खोज में दिल्ली से पहाड़ियों की और पलायन कर गये थे। नई कांगड़ा शैली में, जो बेशोली शैली को पूर्णतया अस्वीकार करती प्रतीत होती है, परवर्ती मुगल कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इस शैली में रंग हल्के होते हैं, भू-परिदृश्य तथा वातावरण सामान्यतः अधिक नैसर्गिक होते है और रेखाएं ज्यादा सूक्ष्म तथा महीन होती हैं।

पहाड़ी चित्रकला का विकास

राजपूत शैली से ही प्रभावित पहाड़ी चित्रकला हिमालय के तराई में स्थित विभिन्न क्षेत्रों में विकसित हुई, परंतु इस पर मुगलकालीन चित्रकला का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है।

पाँच नदियों-सतलुज, रावी, व्यास, झेलम तथा चिनाव का क्षेत्र पंजाब, तथा अन्य पर्वतीय केन्द्रों जैसे–जम्मू, कांगड़ा, गढ़वाल आदि में विकसित इस चित्रकला शैली पर पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों की भावानाओं तथा संगीत व धर्म सम्बन्धी परम्पराओं की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

पहाड़ी शैली के चित्रों में प्रेम का विशिष्ट चित्रण दृष्टिगत होता हैं। कृष्ण-राधा के प्रेम के चित्रों के माध्यम से इनमें स्त्री-पुरुष प्रेम सम्बंधों को बड़ी बारीकी एवं सहजता से दर्शाने का प्रयास किया गया है।

पहाड़ी शैली के विभिन्न केन्द्रों में विकसित होने के कारण इसके अनेक भाग किये जा सकते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

बसोहली चित्रकला
गुलेरी चित्रकला
गढ़वाल चित्रकला
जम्मू चित्रकला
कांगड़ा चित्रकला

कांगड़ा चित्रकला शैली

1770 तक कांगड़ा शैली का भावपूर्ण आकर्षण पूरी तरह विकसित हो चुका था। अपने एक महत्त्वपूर्ण संरक्षक राजा संसार चंद (1775-1823) के शासनकाल के आरंभिक वर्षों के दौरान यह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई थी।

यह शैली कांगड़ा राज्य तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि संपूर्ण हिमालय की तराई में कई विशिष्ट उपशैलियों के साथ फैल गई थी। चूंकि तराई के स्वतंत्र राज्य बहुत छोटे थे तथा प्रायः एक-दूसरे के नजदीक बसे हुए थे, इसलिए अधिकांश चित्रकला के उद्गम स्थानों को नियत करना मुश्किल है।

भागवत पुराण तथा गीतागोविंद के गीतात्मक पद्यों में अभिव्यक्त कृष्णलीलाओं के साथ अन्य हिंदु पौराणिक कथाएँ, नायक-नायिकाएँ, रागमाला शृंखलाएँ तथा पहाड़ी मुखिया और उनके परिवार चित्रकला के आम विषय थे। 1800 के

पश्चात् इस शैली का पतन आरंभ हुआ, यद्यपि 19वीं सदी के शेष काल में न्यून गुणवत्ता वाली चित्रकला जारी रही।

पहाड़ी लघु चित्रकला–अंकन दास

मैं हाल ही में शिमला गई थी। वहाँ मुझे 'अंकन दास' मिले जो पहाड़ी लघु चित्रकला शैली के छात्र हैं। उन्होंने मुझे और मेरे दोस्तों को इस शैली के इतिहास और वर्तमान से रूबरू करवाया।

भारत में राजपूत और मुगल लघु चित्रकला शैली बहुत सालों से विख्यात हैं। उनके मुकाबले पहाड़ी लघु चित्रकला हाल ही में बहुचर्चित हुई हैं।

सन 1916 में पहली बार श्री कुमार स्वामी ने पहाड़ी लघु चित्र शैली को राजपूत और मुगल लघु चित्र शैली से अलग बताया, क्योंकि जिस जगह पर कला का अपना आविष्कार होता है, उससे कला को ढंग प्राप्त होता है, पहाड़ी लघु चित्रकला के दो ढंग बताए जाते हैं। गुलेर शैली और कांगड़ा शैली।

गुलैर शैली का उगम कश्मीर और हिमाचल प्रदेश में हुआ। 17 वीं सदी में पंडित से इस शैली में चित्र बनाने के लिए विख्यात थे। आज के रोज में पहाड़ी लघु चित्र शैली का अस्तित्त्व उन्हीं से माना जाता है। आज के पीढ़ी के लगभग सभी कलाकार उन्हीं के घराने से आते हैं। उनके दो बेटे पंडित नयनसुख और पंडित मानकु इन्हें जसरोठा और बसौली में मौजूद पहाड़ी लघु चित्र शैली में अग्रक्रम पर माना जाता है।

गूलैर की चित्रकला शैली के घराने से कलाकार अपनी कला के विकास के लिए नानाविध प्रदेश घूमते। वैसे ही वे लोग मुगल दरबार में भी जाते। अपनी शैली का विकास कर और उसमें पहाड़ी रंग भर वह फिर अपने अपने अलग रास्ते गए। ऐसे ही पहाड़ी लघु चित्र शैली विविध जगह पर पहुंची।

गूलैर घराने के मुकाबले पहाड़ी लघु चित्र शैली का कांगड़ा घराना बाद में विकसित हुआ। ऐसी एक मान्यता है कि कांगड़ा घराने के कलाकारों का उगम गुजरात के लघु चित्रकारों से होता है। उनका अभी का सामाजिक व्यवहार और पहचान ग्यारहवी और बारहवीं सदी के गुजरात के लघु चित्रकारों से मिलती जुलती है (जैसे–गोत्र समान होना)।

चित्रकार जो विशिष्ट प्रकार का साहित्यध सामान (कागज और रंग मुख्यत:) इस्तेमाल करते हैं, उसके बारे में पूछने पर अंकन जी ने इतिहास की कुछ और परतें खोलकर साझा की। लगभग 15 वीं सदी तक चित्रकला के

लिए इस्तेमाल किया जाने वाला कागज चीन और मध्य पूर्व के मार्ग भारत में मंगवाया जाता था। इस कागज का नाप लगभग 9×12 इंच रहता था। इसकी वजह से बनाए गए बहुत से लघु चित्र 9×12 इंच के ही हैं। बहुत बार लोग गलतफहमी पाल लेते हैं कि लघु चित्रकला के मायने छोटे आकार की चित्रों से हैं, बल्कि इन चित्रों के छोटे आकार का कारण तो कागज की उपलब्धता है। लघु चित्रकला के असली मायने उसमें किए गए अत्यधिक बारीक और नाजुक काम से हैं। कई बार तो यह चित्रों में किए गए इन खूबियों को बारीकी से निहारने के लिए मैग्निफाइंग ग्लास का इस्तेमाल किया जाता था। भारत में इन विशिष्ट प्रकार के कागजों का निर्माण 15 वीं सदी के बाद होने लगा। इसलिए तब तक के जो भी बड़े चित्र है वह कागजों को जोड़कर उन पर बनाए गए हैं। इन खास कागजों को जोड़ना कोई बाएं हाथ का खेल नहीं, बल्कि एक बेहद मुश्किल और संयम का इंतिहान लेने वाला काम है, लेकिन एक बार जो यह जोड़ पक्का हो जाए तो वह सालों टिका रहता था। यह उस जमाने के पाए गए बड़े चित्रों से जाहिर हैं।

अब हम लघु चित्र बनाने की पूरी प्रक्रिया के बारे मे और जानते हैं।

(1) कागज की तैयारी–पहले के जमाने में चित्रकार खुद ही अपना कागज तैयार करते थे। आज के समय में, कागज कोई और तैयार करता है। चित्रकार को इसके इसके बारेमें सोचने की जरुरत नहीं हैं।

(2) खाका झाड़ना–इसमें चित्र का अनुरेखण (ट्रेसिंग) किया जाता हैं। पहले के जमाने में, इसके लिए खरगोश या बकरे के चमड़ी के अंदरूनी परत का इस्तेमाल किया जाता था। अभी इसके लिए पारदर्शी कागज (बटर पेपर) का इस्तेमाल किया जाता हैं।

(3) कच्ची टिपाई–चित्र के आकर का प्राथमिक रेखांकन।

(4) पक्की टिपाई–चित्र के आकर का सटीक रेखांकन।

(5) कच्ची टिपाई।

(6) खड़िया (रंगकाम)–चित्र के पार्श्वभूमी में रंगलेपन करना।

(7) घुटाई–शंख से चित्र के ऊपर घुटाई।

(8) कच्ची टिपाई–रेखांकन

(9) पक्की टिपाई–सटीक रेखांकन

(10) बुनियादी रंगकाम।

(11) कच्ची टिपाई।

(12) पक्की टिपाई।

(13) घुटाई।

(14) परदाज–यह बार-बार दोहराया जाता है। इसमें चित्र का सटीक रेखांकन किया जाता है। पहले हल्का, फिर मध्यम और अंत में गहरा रेखांकन किया जाता है।

(15) स्वर्ण रंग का बुनियादी काम–इसमें स्वर्ण रंग का काम किया जाता है।

(16) अकीक पत्थर घुटाई–इसमें एक विशिष्ट पत्थर से घुटाई की जाती है।

(17) स्वर्ण रंग का सटीक रेखांकन।

(18) हाशिया काम–इसमें चित्र के बाहरी सीमा का रेखांकन किया जाता है। मुगल शैली में इसमें बारीकी से रेखांकन किया जाता है। कांगड़ा शैली में यह कम पाया जाता है। बसौली शैली में बाहरी सीमा को पंख, मणि आदि से अलंकृत किया जाता है।

(19) चित्र के संधारण हेतु ढांचा खड़ा करना।

आज के तारीख में बहुत सारे पुराने चित्र भारत के बाहर अलग-अलग देशों में विभिन्न व्यक्तियों के निजी संग्रह में है।

पहले के जमाने में मध्यमवर्ग और उच्च मध्यमवर्गीय लोगों के घरों को सजाने में भी लघु चित्र शैली का बहुत बड़ा योगदान होता था, लेकिन वैसी कारीगरी अब ज्यादातर देखने नहीं मिलती, तब मंदिरों में कारागिरी करने के लिए राजाओं का फरमान निकलता था और उसके लिए नजराना भी खूब दिया जाता था। पहाड़ी इलाकों के अनेक मंदिरों में (शोगी मंदिर, हमीरपुर का मंदिर) पहाड़ी लघु चित्रशैली के नमूने पाए जाते हैं, हालांकि श्री ओम प्रकाश शिवपुरीजी ने अलग-अलग तरह से इन पुराने पहाड़ी लघु चित्र शैली के कलाकृतियों का संधारण करने के लिए पुख्ता कदम उठाए हैं।

अंकन दास पहाड़ी लघु चित्र शैली के अभ्यासक हैं। उन्होंने भी इस शैली के बारे में अपने अभ्यास के दौरान जानकारी प्राप्त की, वे इसका इस्तेमाल अपनी चित्रकारी में करते हैं। उन्होंने इस विषय में मास्टर ऑफ फाइन आर्ट्स यह पदवी सम्पादित की हैं। यहाँ हम उनका हिमाचल प्रदेश कला संग्रहालय में रखा हुआ चित्र देख सकते हैं।

❐❐❐